श्रीगणेशजी ।

HIS LATE MAJESTY KING EDWARD VII.

QUEEN ALEXANDRA.

KING GEORGE V.

QUEEN MARY.

राजभक्ति

अर्थात्

मनुष्यधर्म-दर्पण

जिसको

अवध मण्डलान्तर्गत प्रतापगढ़दुर्गाधिपति

श्रीमदानरेबूल राजा प्रतापबहादुरसिंह जूदेव वर्म्मा

सी. आई. ई. इत्युपलब्धपदप्रवर

ने

सर्वसाधारण जनों के हितार्थ विशेषकर पाठ-

शालीय विद्यार्थियों के निमित्त निजाश्रित

पण्डित मनबोधराम शर्म्मा व मनीषी

महाराजदीनसिंह वर्म्मा के द्वारा

संक्षेप संग्रह में निर्मित किया

वही

इण्डियन प्रेस, इलाहाबाद, में मुद्रित हुआ

श्रीगणेशाय नमः

भूमिका

उस परब्रह्म परमेश्वर, सर्वशक्तिमान्, जगदीश्वर, आद्यन्तरहित, विश्वम्भर, विभु सनातन, सदाशिवस्वरूप को कोटि कोटि धन्यवाद है कि जो सम्पूर्ण संसार के स्थावर, जंगम प्राणिमात्र में मनुष्यजाति को सृष्टि-शिरोमणि का पद प्रदान कर शेष चराचर जगत् को इसी ज्ञातिमात्र के विषय उपभोग के स्थान पर उपस्थित करता हुआ ज्ञेय, ध्येय, अनुसंधेय आदि विशेषणों सहित अखिल कार्य-कारणों का परम कारण प्रतीत होकर सर्वत्र व्यापक, विषय-अगोचर व निखिल पदार्थ प्रकाशकरूप से सर्वोपरि विराजमान हो रहा है। अब यह सर्वसाधारण मनुष्यों पर विदित होना चाहिये कि मनुष्य-

जाति की प्रधानता इस चराचर जगत् में कैसे प्राप्त होना सिद्ध होता है व उनमें भी नानात्व भेद कहाँ से प्राप्त हुए अर्थात् संसार में ऐश्वर्य्यवान्, दरिद्र, पण्डित, मूर्ख, शूर-वीर, कातर, खल, सज्जन, उदार, कृपण, धर्मात्मा, अधर्म्मी आदि मनुष्य विविध गुण के कैसे होने लगे हैं। जानना चाहिये कि यह ऐसे समदर्शी एकरस शत्रु मित्रादि भावरहित निरीह स्रष्टा की सृष्टि है कि जो कल्प के आदि में ज्योतिःस्वरूप, अव्यक्त, सनातन, अखण्ड ब्रह्म से उत्पन्न स्वयम्भू मनुरूप से इस जगत् को विस्तार किया और उसमें मनुष्य-जाति की प्रधानता सूचित करने के निमित्त सम्पूर्ण वेदों का सारांश लेकर मानवधर्म्मशास्त्र निर्माण किया है क्योंकि अनुबन्धचतुष्टयद्वारा उसका अधिकार यथार्थ सृष्टि प्रवर केवल मनुष्य मात्र ही को प्रतीत होता है कारण यह कि मनु का मुख्य अपत्य संबन्ध व्याकरण के नियमानुसार मनुष्य ही में प्राप्त होता है।

जो कि व्याकरण वेदाङ्गों में मुख्यतर है जैसा कि पाणिनीय शिक्षा के प्रामाणिक वाक्यों से विदित होता है ॥

यथा—

छन्दः पादौ तु वेदस्य हस्तौ कल्पोऽथ पठ्यते।
ज्योतिषामयनं चक्षुर्निरुक्तं श्रोत्रमुच्यते ॥
शिक्षा घ्राणं तु वेदस्य मुखं व्याकरणं स्मृतम् ।

महाभाष्येऽपि—

षडङ्गेषु व्याकरणं प्रधानम् ॥

अर्थ यह है कि वेद का चरण छन्द है और हाथ कल्प व ज्योतिष नेत्र है और निरुक्त कान, इसी प्रकार शिक्षा नाक है और व्याकरण मुख । जो पतञ्जलि भगवान् ने महाभाष्य में छहों अङ्गों में मुख्य माना है क्योंकि शरीर के अङ्गों में से इसकी विशेष मुख्यता होने के कारण इसका नाम मुख रक्खा गया है। जैसा कि गोस्वामि तुलसीदासजी ने अपने सर्वमान्य रामायण में लिखा है—

दोहा—

मुखिया मुखसम चाहिये खान पान को एक।
पालै पोषै सकल तनु तुलसी सहित विवेक॥

इस भाँति जब वेदांगों में प्रधान मुख व्याकरण सिद्ध होता है तो अब इसी व्याकरण के द्वारा मानव, मनुष्य, मानुष इत्यादि पद सिद्ध होते हैं जिसका विधायक पाणिनीय अष्टाध्यायी के चतुर्थ अध्याय में प्रथम चरण का एक सौ एकसाठिवाँ सूत्र है कि—

मनोर्जातावञ्यतौ षुक् च ४।१।१६१॥

इसका अर्थ यह है कि मनु शब्द से जाति व समुदाय अर्थ में **अञ्** व **यत्** यह दो प्रत्यय तद्धित विषयक हों और उसी मनु शब्द से **षुक्** प्रत्यय भी हो यथा—मनु+षुक्+अञ्=मानुषः और मनु+षुक्+यत्=मनुष्यः। इस प्रकार जब मनुष्य-जाति की प्रधानता इस स्वयम्भू मनु की सृष्टि में स्पष्ट रीति से सिद्ध हो चुकी तो अब ऐसी अवस्था

में वे सब पदार्थ अर्थात् मानवधर्मशास्त्रोक्त विधि-निषेधादिक कर्म जो स्वयम्भू मनु से आविर्भूत हुये हैं मुख्य अधिकारी होने से मनुष्य-जाति ही में प्राप्त होते हैं जिनके अनुष्ठान से मनुष्य अपनी वासना-वश व संगति आदि के अनुसार दृढ़ाभ्यास करने से विविध प्रकार के फल को प्राप्त होता है। और कल्प पर्य्यन्त अपने शुभाशुभ कर्मों के अनुसार जन्म मरण को प्राप्त होता हुआ सुख दुःखादि भोगता रहता है और अनेक शरीरों को धारण किया करता है। अन्त में अपनी वासना-सहित ईश्वर में लीन होकर सृष्टि की आदि में फिर उत्पन्न होता है। जैसा कि भगवद्गीता में प्रमाण है। यथा—

अव्यक्ताद्व्यक्तयः सर्वाः प्रभवन्त्यहरागमे।
रात्र्यागमे प्रलीयन्ते तत्रैवाव्यक्तसंज्ञके॥
भूतग्रामः स एवायं भूत्वा भूत्वा प्रलीयते।
रात्र्यागमेऽवशः पार्थ प्रभवन्त्यहरागमे॥

ब्रह्मा के दिन के आगमन समय में उनकी अव्यक्त अवस्था में स्थित देह से सम्पूर्ण देव, असुर, मनुष्य आदि व्यक्ति स्वरूप प्रकट होते हैं और ब्रह्मा की रात्रि में उसी अव्यक्तावस्थापन्न ब्रह्मा के शरीर में लीन हो जाते हैं। कृष्ण भगवान् कहते हैं कि हे अर्जुन ! यही भूतग्राम अर्थात् प्राणिगण ब्रह्मा के दिन की आदि में उत्पन्न होकर रात्रि के आगमन में नष्ट हो जाते हैं और फिर दिन की आदि में उत्पन्न हो जाते हैं। इस प्रकार वही एक मानवधर्म विविध प्रकार की वासनायुक्त प्राणियों में विविध प्रकार से प्रकाशित होता है जैसा कि योगिराज भर्तृहरि ने नीतिशतक में कहा है। यथा—

संतप्तायसि संस्थितस्य पयसो नामापि न श्रूयते,
मुक्ताकारतया तदेव नलिनीपत्रस्थितं राजते।
स्वात्या सागरशुक्तिमध्यपतितंतन्मौक्तिकं जायते,
प्रायेणाधममध्यमोत्तमगुणाः संसर्गतो देहिनाम्

एक ही पदार्थ उत्तम, मध्यम और अधम भेद के संसर्ग से वैसेही उत्तम मध्यम नीच गुणों को प्रकट करता है जैसे स्वांती का बूँद जलते हुए लोहे पर पड़ने से तत्क्षण जल जाता है, उसका नाम तक भी नहीं रहता और वही बूँद कमल के पत्र पर पड़ने से मोती के सदृश शोभित होता है। फिर वही बूँद समुद्र की सीप में पड़ने से साक्षात् अमूल्य मोती हो जाता है। इसी प्रकार वह मानवधर्म भी पात्र-भेद से अनेक रूपों के गुणरूप फल में प्रकट होता है जिससे नाना प्रकार के मनुष्य इस संसार में दिखाई देते हैं, इसके और भी प्रमाण हैं जिसमें एक यह है—

गुणा गुणज्ञेषु गुणा भवन्ति,
ते निर्गुणं प्राप्य भवन्ति दोषाः।
सुस्वादुतोयाः प्रभवन्ति नद्यः,
समुद्रमासाद्य भवन्त्यपेयाः॥

कोई गुण यदि किसी गुणवान् अथवा गुण-

जाननेवाले के निकट प्राप्त होता है तो वह अच्छे गुणों में गिना जाता है और यदि वही गुण किसी खल प्राणी में प्राप्त होता है तो दोष के नाम से पुकारा जाता है, जैसे नदियों का जल कैसा स्वादिष्ठ होता है जब कि मेघों से आ कर उसमें मिल जाता है परन्तु वही स्वादिष्ठ जल जब समुद्र में पहुँचता है पान करने के योग्य फिर नहीं रह जाता।

इस प्रकार से श्रुति-सम्मत मानवादि धर्मशास्त्र उपदेश रूप से सृष्टि-शिरोमणि सत्पात्र मनुष्यजाति के अधिकार में उद्योत व प्रकाशमान् होते आये हैं जिसके पदबद्धता के प्रताप से हमारे प्राचीन भारत-निवासी सभ्यता के शिखर पर आसीन बुद्धि-विद्या-वैभवादि के साथ भूमण्डलविख्यात विशद यश को प्राप्त होते रहे हैं उस। धर्मशास्त्र आदि की प्रणाली जो मनुष्य मात्र की प्रधानता का मुख्य साधन है क्रमः २ ह्रास होती चली आई यहाँ तक कि आधुनिक शिक्षाओं

की रीति से बालकों की शिक्षा विविध प्रकार के प्राकृत निबन्धों के द्वारा होने के कारण इस दशा को प्राप्त हो रही है कि उससे उन लोगों का इस विषय का परिज्ञान शायद स्वप्नावस्था में भी ध्यानावस्थित होना दुर्घटना ही विदित होता है कि मनुष्य-संज्ञा हमारी जाति की क्यों नियत की गई है और मनुष्य का मुख्य धर्म क्या है? धर्म का क्या स्वरूप है और उसका क्या अर्थ है? उसके अर्थ में क्या २ आशय हैं और मनुष्य को अपने स्वामी के साथ कैसा धर्म करना चाहिए और किस रीति से सेवा करनी चाहिये और माता पिता व गुरु का स्वत्व बालकों व शिष्यों पर कितना व किस प्रकार का है। स्त्री-पुत्र मित्रादिकों के साथ कैसा सौहार्द रखना चाहिये और बन्धु-वर्गादिकों से किस बर्ताव के साथ व्यवहार करना चाहिये और साधारण नियम सम्पूर्ण सृष्टि के साथ किस प्रकार से निर्वाह करना योग्य है जिससे कि मनुष्य इस संसार

में अक्षत तनसुख, संपत्ति यश, संतति, मान, गौरवादि के सहित अपना जीवन व्यतीत करता हुआ अन्त समय अपनी विख्यात कीर्ति को जगत् में स्थिर रख सुखपूर्वक सुरधाम को पधारै और स्वर्ग में जाकर अपने सुकृतानुकूल विविध भोगों को भोगता हुआ पुण्यावधि पर्य्यन्त परलोकवास करके अपने पूर्वार्जित कर्म्मानुसार फिर संसार में जन्म लेवै और अपने सनातन धर्म के अनुकूल लौकिक, वैदिक आचारों में परायण होकर जगत्कर्ता प्रजापति की प्रवृत्ति रचना में सफलता करता रहै। ऐसे अवसर में इस बड़े दोष के दूर करने की चिन्ता हमारे श्रीमान् परम कारुणिक, कृपामहोदधि, कीर्तिवर्द्धन, सद्धर्मरक्षक, सत्यसंगर, प्रजापालक, दुष्टनिकंदन, शत्रुविनाशक, मान्यवर्य्य, भक्त-वत्सल अवध मण्डलान्तर्गत प्रतापगढ़देशीय पुराण-विदित सोमवंशावतंस राजशिरोमणि श्रीमान् नीति-निधान विश्वहितोत्सुक जगउपकारक प्रतापगढ़ दुर्गा-

धिपति श्रीमदानरेन्द्र राजा प्रतापबहादुर सिंह जू देव-वर्म्मा सी० आई० ई० इत्युपलब्ध पदप्रवर महाशय के सहज सात्विक दयापूरित अमल कोमल चित्त में उत्पन्न हुई। क्योंकि श्रेष्ठ सज्जन महानुभावों की सम्पत्ति औरों ही के हितार्थ होती है जैसा कि निम्न नैतिक श्लोक के भाव से अर्थ सिद्ध होता है।

स्वयं न खादन्ति फलानि वृत्ताः
पिबन्ति नाम्भः स्वयमेव नद्यः।
नैवाम्बुदो वर्षति स्वस्य हेतवे
परोपकाराय सतां विभूतयः॥

फले हुये वृक्ष जो दिखाई देते हैं वह अपने निमित्त नहीं फलते किन्तु उस फल को और ही लोग खाते हैं और नदियों का पानी औरों ही के निमित्त बहता है। नदियां स्वयं नहीं पीती है। मेघों की वर्षा संसार के हितार्थ होती है वह अपने निमित्त नहीं वर्षा करते। इसी प्रकार श्रीमान् सत्पुरुषों की विभूति परो-

पकार ही के हितार्थ होती है और इसी आशय से सर्वसाधारण जनों के सदुपकार व सुधार के निमित्त ऐसे संकेत समय में (कि जिसमें लोग प्रायः समृद्धि-मान् होकर एक एक पैसों पर सर्वथा रक्षणीय अपने अनमोल सत्य मनुष्यता छोड़ कर अदालतों में मजिस्ट्रेटों के सम्मुख स्वर्गसोपानरूपी गंगा-जलपूरित पात्रों को बे खटके मिथ्याही उठा लेते हैं और धर्म को तिलाञ्जलि देकर जन्म जन्मान्तर के निमित्त अपनी मूर्खता से विविध यमयातना के असह्य भोगों को स्वीकार करते हैं और संसार में जब तक प्रारब्ध भोगने के निमित्त जीवित रहते हैं चारों ओर से उनके ऊपर दुर्यश की बौछार ही पड़ती रहती हैं जो मरण-प्राय का फल देती हैं जैसा कि शंकराचार्य्य की प्रश्नोत्तरी में प्रमाण है—

मृत्युश्च कः अपयशः स्वकीयम् ॥

जिसका संसार में अपयश होवै वह मृतक के

तुल्य रहता है। और राजा महाराजा तो कुछ ऐसे हैं कि विषय भोगों हीं में अपनी परमार्थ बुद्धि समर्पण कर सत्यानाश कर देते हैं व इधर उधर के मिथ्यालापों और निरर्थक प्राकृत समाचारों में अपने आह्निक स्वाध्याय से भी अधिकतर लीनमानस रहते हैं। यद्यपि पवित्राशय सम्पूर्ण धर्मनीतियों के भांडार विश्ववि-ख्यात सर्वत्र पूज्य महाभारत आदि इतिहास विद्यमान हैं परन्तु मन की कलुषता के कारण धर्ममार्ग पर किञ्चित् दृष्टि नहीं देते) हमारे प्रशंसित महाराज ने अपनी अमोघ उदारता व परोपकार-निष्ठता चरितार्थ कर अन्य श्रीमान् विषयासक्त अपरिणामदर्शी सांसा-रिक महाशयों के मोहान्धकारनाशक शिक्षाप्रदीप सजा-तीय क्षत्रिय सोमवंशीय उन्नति सुधार के व्याज से कई सहस्र वार्षिक व्यय में अजीत सोमवंशीय हाई स्कूल प्रता-पगढ़ में स्थापित किये हुये हैं। यहां पर सजातीय सुधार का व्याज श्रीमान् महिमवर की नीति-विचक्षणता का

विशेषरूप से ज्ञापक भाव में स्थित प्रकाशक प्रतीत होता है क्योंकि भर्तृहरिशतक का प्रमाणिक श्लोक यही भाव प्रकट करता है वह यह है—

परिवर्तिनि संसारे मृतः को वा न जायते।
स जातो येन जातेन याति वंशः समुन्नतिम्॥

इस संसार चक्र में कौन नहीं जन्म लेता और मरता है परन्तु जन्म लेना उन्हीं पुरुष को समझा जाता है कि जिसके जन्म के द्वारा उसके वंश की अच्छे प्रकार से उन्नति होवै। सो तो हमारे प्रशंसित महाशय को सदाकाल से अपने सजातीय बन्धु-वर्गों की समुन्नति सुधार स्वभावतः अभीष्ट ही है। जिससे कि श्रीमान् शुद्ध सात्विक सद्भावभूषित महाराज के निरस्त कुवासनादि अन्तःकरणरूपी दृषदादिहीन सद्भूमि में पुण्य पुराकृतजनित उपकाररूप संचित कमल बीज नैसर्गिक दयाम्बुद उत्पन्न द्रवतारूपी वृष्टि-जल से यथेष्ट संभावित होकर सम्राट् गवर्नम्यन्ट राज्यरूप

प्रभाकर के उदय होने से (जो कि इस देश की बालिकावधादि कुरीतियों की निशा विनाश करता हुआ स्वार्थपरायण प्रजा-विघालक खंड भूमिभागाधिकारी नृपगण ताराओं की प्रभा कर्षित कर निःस्वत्व करता हुआ व डाकू ठगहार चौरादिरूपी रात्रिंचर उलूकों को निरुद्यम करता हुआ व श्रीमान् सत्पुरुष शुभ-चिन्तकजन कमलों के विकास का कारण होता हुआ तदाश्रित प्रजागण मधुकरों के निमित्त शुद्ध जीविका मकरन्द व्यापार बनाता हुआ सहस्र रश्मि सुनीतियो के साथ प्रकाशित हुआ है) सम्यक् प्रफुल्लित हो रहा है उसके परागरूपी सद्धर्म शिक्षा से पार्श्ववर्ती अधिकारिजनों को व विशेष कर षट्पद नवशिक्ष्य बालकों को सुवासित करने के प्रयोजन से निजाश्रित विदुषरूपी प्रभंजन द्वारा उसका वितरण करना समुचित कर्तव्य अनुगम किया तदनन्तर एक दिन श्रीमान् नीतिनिधान के

करुणा वरुणालय चित्त महोदधि में भक्तिभाव-रञ्जित हार्दिक शुभ-चिन्तक राजनीति कलाकौशल प्रजा-गणहितान्वेषी प्रधानामात्य मनीषी हरिप्रसादसिंह वर्म्मारूप विभासित राकारजनीपति संयोग पाकर परमाह्लादोल्लास तरंग वीथियाँ उठने लगीं और श्रीमान् महाराज ने प्रशंसित मंत्रि-मधुकर को अभि-मुख्य कृपाकटाक्षकरण द्वारा सम्मान मानित कर निज मुखारविन्दोद्गत स्वेच्छाशय शब्दपरागों से सर्वथा संबोधित कर दिया अर्थात् स्पष्टतः आज्ञा दिया कि मनीषी जी परमेश्वर का धन्यवाद है कि आप की राजधानी में सब प्रकार के गुणवान्, बुद्धि-मान् परिडतजन विद्यमान हैं उत्तम होगा कि पाठ-शालीय अध्यापकों में से किसी दो एक को जैसा उचित होवै आप इस कार्य्य पर नियुक्त कर दीजिये जोकि धर्म्मशास्त्र आदि पुराणों और इतिहासों से आविष्कार कर सनातनधर्मानुसार सदाचार-सम्मित

एक मानवधर्म संग्रह संक्षेप रीति से प्रामाणिक वाक्यों को प्रयोजनीय स्थलों पर अलंकृत करता हुआ भाषा में निबंधित कर देवै। विशेष आशय यह कि आज कल प्रायः स्कूल के लड़कों का चित्त मालिन होकर धर्म से रहित हो रहा है ! कारण यह कि कोई पुस्तक आज तक ऐसे धर्म मार्ग की कोर्स में प्रचलित नहीं हुई कि जिसके कारण वे उन बड़े बड़े अनर्थों से जो सर्वथा धर्म के विरुद्ध कर बैठते हैं रक्षित रहैं। इस प्रकार से मनुष्य के सनातन धर्म की एक पुस्तक बनवा कर आधुनिक चित्तवर्ती मनुष्यों के दोषों को दूर करने का वास्तविक उद्योग करना उचित है। श्रीमान् मानज्ञ महाराज के ऐसे मानवर्द्धक सुधाकल्प वाक्यों को श्रवण कर परम कृतज्ञ विनय-विशारद सभ्य सहृदय मंत्रिवर्य्य मनीषी हरिप्रसादसिंह वर्मा आनन्दाप्लुत हृष्टात्मा सत्य-श्रद्धा-संयुक्त कृत्य-कृत्यता-सूचक व सर्वभावपूज्य प्रभूपदेश शिरो-

धार्य्य करणाभाव प्रकाशन-निमित्त किञ्चिन्नमित-शीर्षक हो गये पुनः सम्यक् स्वामि-निर्दिष्ट जगदुपकारक नैज नियोगता सँभालने के हेतु सौम्य सावधानी स्वीकार करली तत्पश्चात् उसकी कार्य्य-वाहकता चिन्तन करते हुये श्रीयुक्त पूज्यपाद मान्यवर पण्डित भगवत्प्रसादजू शर्म्मा सेक्रेटरी स्कूल की सुसम्मति से मुझ दीन मतिहीन अकिंचन अननुभाव को अपने स्वाभाविक मधुररस-संसिक्त कोमलालापों से सत्कारित कर प्रतिष्ठारूप राजाज्ञा प्रदान की अर्थात् अनुशासित किया कि श्रीमान् महाराजा धर्मावतार की अभिलाषा पूर्ति विधायक प्रामाणिक वाक्यों से परिष्कृत 'मनुष्य धर्मदर्पण' नामक गद्य भाषा-भणित एक ऐसा ग्रन्थ लिखना उचित है कि जिसमें मनुष्य जाति के उपयुक्त जन्म समय से लेकर मरण पर्य्यन्त की सम्पूर्ण सनातन शिक्षायें सगर्भित रहैं आवश्यकीय स्थानों पर नीति-धर्म्म, शास्त्र, पुराण, इतिहास,

साहित्यादिकों के प्रामाणीक मूल श्लोक भी लिखे जावैं और इनके व्यतिरिक्त इस वस्तु का भी ध्यान रखना अनुचित न होगा कि ग्रन्थ में विशेष रीति से विस्तार किसी पदार्थ का न होने पावै—ऐसी राजाज्ञा को सुन कर शिर पर तो मैंने धारण कर लिया और ईश्वर को धन्यवाद दिया। परन्तु विचार करने पर सुख दुःख का कारण देख चित्त मोहित सा हो गया, जैसा रामायण में कहा है।

चौपाई

धर्म सनेह उभय मति घेरी।
भै गति सांप छछूँदरि केरी॥

अर्थात् जब मैं राजाज्ञापालन पर दृष्टि देता हूँ तो अत्यन्त हर्ष प्राप्त होता है। और जब अपनी कुबुद्धि अयोग्यता पर ध्यान करता हूँ तो विषाद ही विषाद दिखाई देता है। क्योंकि यदि ढिठाई कर कुछ लिख भी चला तो एक उपहास ही का कारण होगा इस अस-

मंजस में फिर रामायण की एक चौपाई ने मुझको आधार दिया कि हित अनहित का विचार छोड़ कर स्वामी की आज्ञा पालन करनी अवश्य चाहिये, यही सनातन का परम धर्म है । यथा—

मातु पिता प्रभु गुरु की बानी ।
बिनहि विचार करिय शुभ जानी ॥

इस आलम्ब पर अब मैं अपनी अल्प मति के अनुसार, मनुष्यधर्मदर्पण, के विषय में कुछ लिखना प्रारम्भ करता हूँ और परम देव प्रतिम अपने विद्येश्वर-रूप महाराजा का अमित धन्यवाद देता हूँ कि जिसकी अमोघ अनुग्रह से ऐसे प्रतिष्ठाप्रदायक विशेष कार्य्य में मुझ ऐसा अयुक्त अनधिकारी असभ्य ग्रामीण मनुष्य प्रयुक्त किया गया है तदनन्तर सर्व साधारण पुरुषों, महानुभावों के—

जो सहि दुख पर छिद्र दुरावा ।
वंदनीय तेहि जग यश पावा ॥

निकट यही निवेदन है व आशा है कि जहाँ कहीं असावधानी से इस ग्रन्थ के अर्थ-व्यत्यय अन्वय विभेद वाच्यपरिवर्तन विशेष्य विशेषणादि दूष्य भाव अघटित रूपकालंकार इत्यादि विषयक वाक्यों में अशुद्धता पाई जावै वह सब कृपापूर्वक क्षमा करेंगे क्योंकि मैं कोई कवि नहीं हूँ और न कोई काव्यकलालङ्कारादि विषयाधीत हूँ केवल स्वामी की आज्ञा-पालन निमित्त अपनी मति के अनुसार ऐसे पारावार धर्म-मार्ग-दर्शन में साहस करता हूँ क्योंकि रामायण में कहा है—

ईश रजाय शीस सबही के।

अब मैं उन सत्पुरुषों को धन्यवाद देकर इस भूमिका को समाप्त करता हूँ जो इस हास्य-योग्य प्राकृत निबन्ध के हँसने में दृष्टि न देंगे और इस ग्रन्थ के भाव को विचार कर मेरे इस मंदमति के परिश्रम को सफल करैंगे—

भवदीय

महाराजदीन वर्म्मा

भृतक राजधानी प्रतापगढ़।

मनुष्यधर्म-दर्पण

प्रथम प्रकरण धर्म पर

पाठ १

धर्म के स्वरूप के विषय में

अप्रमेयत्वयातीतनिर्मलज्ञानरूपिणे ।
मनोगिरा विदूराय दक्षिणामूर्तये नमः ॥

धर्म शब्द एक ऐसे अनुपम अमिताशय गूढ़ार्थ-गर्भित पदार्थ का वाचक वा द्योतक है जिसका पर्य्यायवाची वास्तविक अर्थ रखनेवाला कोई दूसरा शब्द हिन्दी, उर्दू, अर्बी, फ़ारसी, व इँगलिश इत्यादिक भाषाओं में नहीं मिल सकता है और एक यही ऐसा अमोघ पदार्थ है जिसके

आधार सम्पूर्ण चराचरात्मक जगत् प्राकृत वैकृत सृष्टि-संयुक्त स्थिर भासित होता है क्योंकि यह उणादि-निष्पन्न अद्वितीय धर्म शब्द **धृञ्** धातु से जो धारण अर्थ में द्योतक है **मन्** प्रत्यय द्वारा सिद्ध होता है; जिसका अर्थ यह है कि सम्पूर्ण ब्रह्माण्ड को जो आश्रयरूप से धारण किये हुए है वा जिसके द्वारा अखिल पदार्थ धारण किया जावे वह धर्म है। अर्थात् जो भगवान् भास्कर दिनमणिरूप में तीनों लोकों का अन्धकार दूर करते हुए प्रकाशित होते हैं और उदित सुधाकर चन्द्रमा अपनी पीयूष रश्मियों से आतप-जनित उष्णता शीतल कर अनेकानेक ओषधियों को पोषण करते हैं और ध्रुव सप्तर्षि आदि महात्मा अमित सुकृतिजनों के साथ तारागणरूप में गगन मण्डल को भूषित करते हुए दिखाई देते हैं व वायु निरन्तर चलता है, अग्निदेव प्रज्वलित होते हैं, मेघ-पंक्ति यथोचित समय पर वर्षा करती हैं, देवराट् इन्द्र

विबुध-मण्डली में स्वर्ग के अद्भुत ऐश्वर्य्यों को भोगते हैं। बड़े २ समुद्र अपनी २ सीमा को सदा काल रक्षा करते रहते हैं, और राजा महाराजा पृथ्वी पर राज्य करते व प्रजागण नाना प्रकार के उपद्रवों से बचते हुए सब सुख-सामग्री-सहित अपने स्वामी को धन्य-वाद देते रहते हैं और अपने जीवन व्यतीत करते हैं। यह सब इसी एक शुद्ध पद, महाशय धर्म पदार्थ का प्रभाव है क्योंकि इसी के प्रसाद से सारा संसार का व्यवहार प्रवृत्ति निवृत्ति के विषय का चलता हुआ ज्ञात होता है और प्राणियों को, मुख्य कर मनुष्य-जाति को इस जन्म तथा अन्य दूसरे जन्मों में यही सुख, दुःख, हानि, लाभ, जीवन, मरण, यश, अपयश आदि प्राप्त होने का परम कारण होता है।

—:०:—

पाठ २

धर्म-स्वरूप का दृष्टान्त

प्रथम पाठ में जो कहा गया है कि जिस को सब कोई अपने मर्य्यादा रक्षण के निमित्त धारण कर व जिसके द्वारा सम्पूर्ण पदार्थ धारण किया जावै वह धर्म्म है इससे सिद्ध होता है कि पृथ्वी केवल धर्म्म ही के द्वारा सम्पूर्ण पदार्थों का भार अपने ऊपर सँभाले हुए है । यदि इस अनमोल धर्म पदार्थ का आश्रय न होता तो क्षण मात्र भी स्थिर न रह कर यह सर्वाधार पृथ्वी रसातल को चली जाती। उस धर्म के व्यतिरिक्त कोई इसके सँभालने में समर्थ न होता क्योंकि पुराणों, इतिहासों से स्पष्ट प्रकट होता है कि धर्म की हानि होने से पृथ्वी अपने भार को फिर नहीं सह सकती—यद्यपि सम्पूर्ण पर्वतश्रेणियों व अगाध जलराशि समुद्रों के सहित बड़े २ कानन देश, ग्राम, नगरादि, संयुक्त अगणित

स्थावर जंगम प्राणिगणों को सहज सुकरता से धारण किये हुए रहती है और उसी धर्म के प्रभाव किसी प्रकार के भारवाहकतादि क्लेशों से पीड़ित नहीं होती। बिना धर्म के अत्यन्त दुःख से दुखी हो कर जगत्कर्त्ता परमेष्ठी प्रजापति की शरण में जाती है और दुख दूर करने के उपाय ढूँढती है जैसा कि श्रीमदध्यात्मरामायण में प्रमाण है। वह यह है—

भूमिर्भारेण मग्ना दशवदनमुखा-
ऽशेषरक्षो गणानाम्।
धृत्वा गोरूपमादौ दिविज मुनिजनैः
साकमब्जासनस्य।
गत्वा लोके रुदन्ती व्यसनमुपगतं
ब्रह्मणो प्राह सर्वम्॥
ब्रह्मा ध्यात्वा मुहूर्तं सकलमपि हृदा
वेद शेषात्मकत्वात्॥

जब रावण आदि राक्षसों के दुराचार अधर्म

प्रवृत्ति से पृथ्वी अपने सदा काल के स्वाभाविकी भार से पीड़ित हुई तो गोस्वरूप धारण कर देवता व मुनिगणों के साथ कमलासन ब्रह्मा के लोक को गई और रोती हुई अपना सम्पूर्ण दुःख जो धर्म की हानि होने व अधर्म के प्रचार होने से प्राप्त हो रहा था सब ब्रह्मा जी से निवेदन किया जिसको श्रवण कर ब्रह्मा एक मुहूर्त तक ध्यानावस्थित रहे और जो कि ब्रह्मा सर्वात्मा हैं अर्थात् सब के अन्तःकरण के जानने वाले हैं हृदय के विचार से समस्त समाचार जान लिया और देवता मुनियों के साथ विष्णु भगवान् की स्तुति कर उनको मनुष्य-रूप धारण करने के हेतु प्रार्थना की अन्त में भक्तवत्सल सन्तजन-पालक भूमिभार उतारने के अर्थ कोशलेश दशरथ नृप के यहाँ चार अंश में आदि शक्ति सहित रामावतार ले कर रावणादि दुष्टों को संहार कर यथार्थ रीति से फिर धर्मसंस्थापन किया और संसार को स्वस्थता की

दशा में करके सम्यक् प्रकार से पृथ्वी का भार उतार फिर अपने धाम को चले गये। इसी प्रकार जब कभी पृथ्वी अपने स्वाभाविक भार से अधर्म प्रचार के कारण आक्रन्दित होकर सर्वशक्तिमान् जगदीश्वर परम पुरुष परमेश्वर की शरण में अपनी स्थिति के मूल कारण उसी शुभाश्रय धर्म के रक्षण निमित्त विविध भाँति के भावों से अपनी असमर्थता प्रकट करती हुई विनयवती होती है तब करुणासागर पतितपावन भक्तवत्सल भवभयभंजन लीलाविग्रह धारण कर संसार से कुत्सित मार्गवर्ती अधर्मी जनों को नाश करते हैं और सनातन धर्म नीति को संस्थापन कर साधु सज्जन लोगों को आनन्दित करते हुए परम पावन यश के हेतु नर-लीला स्वीकार करते रहते हैं। जैसा कि भगवद्गीता के प्रमाण से सिद्ध होता है। यथा—

यदा यदाहि धर्मस्य ग्लानिर्भवति भारत!।
अभ्युत्थानमधर्मस्य तदात्मानं सृजाम्यहम्॥

परित्राणाय साधूनां विनाशाय च दुष्कृताम्।
धर्म संस्थापनार्थाय संभवामि युगे युगे ॥

श्रीकृष्ण भगवान् कहते हैं कि हे भारत—अर्जुन! जब जब धर्म की ग्लानि होती है और अधर्म बहुत सा बढ़ जाता है तब मैं अपने अवतार को धारण करता हूँ और साधुजनों की रक्षा के निमित्त और दुराचारी मनुष्यों के नाश के अर्थ युग युग में धर्म को स्थापन करने के निमित्त मैं अवतार लेता हूँ। इस प्रकार सम्पूर्ण जगत् की स्थिति व व्यापार केवल एक धर्म ही के अधीन है।

—:०:—

पाठ ३

धर्म का माहात्म्य

अब इस धर्म्म-माहात्म्य के विषय में विस्तार करने की विशेष आवश्यकता नहीं ज्ञात होती क्योंकि इसको परम्परा से सर्वजन कुछ न कुछ जानते ही हैं।

केवल इतना कहना आवश्यक है कि संसार में जितने पदार्थ सुत, वित, नारि, बन्धु, परिवार आदि दिखाई देते हैं वे सब अपने इस शरीर-सहित नश्वर हैं व क्षणिक मात्र भी किसी के स्थिरता की आशा नहीं है, आशा है तो केवल एक धर्म ही की है। क्योंकि यही सदाकाल इस जीवात्मा का साथ देता है। जीवन-पर्य्यन्त अपने स्नेह के अनुसार मनुष्यों को सुख-दुःखादि, हानि-लाभ का कारण होता है और मरण समय परलोक मार्ग में भी साथ जाता है जहाँ कोई नहीं जा सकता जैसा कि प्रमाण है कि धर्म के बराबर और कोई दूसरा ऐसा मित्र नहीं है जो सदाकाल साथ देता रहे और सहायता करै। जैसे निम्न लिखित श्लोकों के अर्थ से भासित होता है जो मानव शास्त्रादि के हैं। यथा—

अनित्यानि शरीराणि विभवो नैव शाश्वतः।
नित्यं सन्निहितो मृत्युः कर्तव्यो धर्मसंग्रहः॥१॥

एक एव सुहृद्धर्मो निधनेप्यनुयाति यः।
शरीरेण समं नाशं सर्वमन्यद्धि गच्छति ॥२॥
द्रव्याणि कोषे पशवश्च गोष्ठे,
नारी पुरद्वारि जनाः श्मशाने।
देहश्चितायां परलोकमार्गे,
कर्मानुगो गच्छति एष जीवः ॥ ३ ॥

शरीर आदिक सब विभव अनित्य है, यह सदा काल बने नहीं रहते और मरने का किसी क्षण में ठिकाना नहीं है इससे धर्म का संग्रह करना चाहिए ॥१॥ धर्म ही एक ऐसा मित्र है जो मरने पर साथ जाता है और सब पदार्थ शरीर के साथ नष्ट हो जाते हैं ॥२॥ मरने के समय द्रव्यादिक पदार्थ कोषों भांडा-गारों में पड़े रहते हैं और हाथी, घोड़े, गाय, भैंसें आदि पशु अपने २ स्थानों पर बँधे रहते हैं, परम प्यारी स्त्री रोती पीटती घर के द्वार तक साथ देती है और पुत्रादि बन्धु-वर्ग अन्य लोगों के सहित

श्मशान तक जाते हैं और यह शरीर जो अत्यन्त प्रेम की अवस्था में सदा काल रहती है चिता पर तक साथ देती है। इसके आगे सब जन साथ छोड़ देते हैं, केवल यही जीव अपने आचरित धर्मों के साथ परलोक मार्ग में जाता है ॥ ३ ॥ और वहाँ अपने उसी किये हुए कर्मों के अनुसार शुभाशुभ अर्थात् स्वर्ग, नरक भोगता है और फिर उसी धर्म के अनुसार संसार में जन्म लेकर अपने पूर्व जन्म के धर्मानुष्ठानों को जिसको दूसरा शरीर धारण करने की अवस्था में प्रारब्ध कहते हैं भोगता है। जैसा कि कहा गया है—

पूर्व-जन्म कीन्हों जो धर्म्मा।
सोई पुण्य कहावत कर्मा ॥

और यही बात होरा सिद्धान्त संहितात्मक वेदांग ज्योतिःशास्त्र से भी सिद्ध है जैसा कि महर्षि प्रतिम बराहमिहराचार्य्यकृत बृहज्जातक के प्रामाणिक वाक्य का आशय है। यथा—

होरेत्यहोरात्र विकल्पमेके,
वाञ्छन्ति पूर्वापरवर्णलोपात् ।
पूर्वार्जितं कर्मभवे सदादि,
यत्तस्य पक्तिं समभिव्यनाक्ति ॥

अहोरात्र पद से आदि अन्त के एक २ वर्ण लोप करने से होरा शब्द बनता है । जो होरा शास्त्र मनुष्यों के पूर्वजन्म में सत् असत् आदि कर्मरूप धर्म अर्जित किये हुए को प्रकट करता है अर्थात् उसीके अनुसार सुख दुःखादि भोगों को ग्रहों के द्वारा प्रकाशता है । तो ऐसे धर्म-मार्ग से जो इस लोक व परलोक के सम्पूर्ण व्यवहारों का कारण है कौन मतिमन्द मनुष्य विमुख हो सकता है । और भूमिका में भी मनुष्य-जाति की मनुष्यता केवल धर्मावलम्बन ही पर निर्भर है क्योंकि बिना धर्म ग्रहण किये मनुष्य पशु के समान होता है, जैसा कि नीति का प्रमाण है—

आहारनिद्राभयमैथुनं च,
सामान्यमेतत्पशुभिर्नराणाम् ।
एकोहि धर्मोऽप्याधिकश्च लोके,
धर्मेण हीनाः पशुभिः समानाः ॥

आहार करना, सोना, भयभीत होना, वंशोत्पत्ति का व्यवहार करना आदि काम मनुष्यों और पशुओं में बराबर बराबर पाये जाते हैं केवल एक धर्मही है जो मुख्य अधिकारी होने से मनुष्य में स्थित होकर उनको मनुष्यता प्रदान करता है, नहीं तो बिना उसके जैसे सब प्रकार के पशु हैं वैसे ही इस शरीरी को भी पशु भेदों में जानना चाहिये। इस प्रकार धर्म का माहात्म्य जानने से पूर्ण आशा होती है कि मनुष्य अवश्यमेव पशुता को न स्वीकार कर। मनुष्यता के मूलकारण धर्म को यथेष्ट स्वीकार करैंगे।

—:०:—

पाठ ४
धर्म का लक्षण प्रमाण

ध्यान करना चाहिए कि विद्या जिसका अर्थ पदार्थों के जानने में सहायता करनेवाली है और सनातन से चौदह प्रकार के भेदों में प्रसिद्ध होती आई है वही अर्थात् चौदहों विद्या इस धर्म के स्थान हैं जिनमें कि सदाकाल इस धर्म पदार्थ का निवास रहता है जैसा कि याज्ञवल्क्य-स्मृति में प्रमाण है। यथा—

पुराणन्यायमीमांसा धर्मशास्त्राङ्गमिश्रिताः।
वेदाः स्थानानि विद्यानां धर्मस्य च चतुर्दश॥

पुराण १ न्याय २ मीमांसा ३ धर्मशास्त्र ४ अङ्ग अर्थात् शिक्षा ५ कल्प ६ निरुक्त ७ छान्द ८ ज्योतिष ९ व्याकरण १० ऋग्वेद ११ यजुर्वेद १२ सामवेद १३ अथर्वण १४। ये चौदह स्थान विद्या के हैं और इन्हीं स्थानों में धर्म का भी वास रहता

है और धर्म का मूल पाँच भी मन्वादि धर्मशास्त्रों में कहा है क्योंकि उसको इतने महद्विस्तार स्थानों में से अन्वेषण करना बहुत ही कठिन है किन्तु पाँच में भी मुख्य तीन हैं और एक तौ सर्वथा प्रधानही है जैसा कि याज्ञवल्क्यस्मृति में कहा है जो पाँच को प्रतिपादन करता है। यथा–

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
सम्यक् संकल्पजः कामो धर्ममूलमिदं स्मृतम्॥

श्रुति नाम वेद १ स्मृति नाम धर्मशास्त्र २ सदाचार जो धर्म के देश व्यवस्था में कहा जायगा अर्थात् शिष्टाचार ३ स्वस्यात्मनः प्रिय अर्थात् कुल परम्परा व शिष्टाचारों की अनुमति से जो शुभधर्म प्राप्त हुआ हो और उसमें किसी प्रकार का पूर्वापर दोष बाधक न हो ऐसे को स्वात्मप्रिय कहते हैं ४ सम्यक् संकल्पज काम अर्थात् जो धर्मशास्त्र से विरुद्ध न हो और दृढ़ चित्त से इच्छित हो जैसे यज्ञदत्त भोजन

करने से व्यतिरिक्त पानी नहीं पीते अर्थात् भोजन ही करने के समय पानी पीना उनके चित्त में दृढे-प्सित है ५ इन पाँचों में विरोध पड़ने से अनुत्तरोत्तर बली जानना चाहिए अर्थात् पाँचवें से चौथा, चौथे से तीसरा, तीसरे से दूसरा, दूसरे से पाहिला बली है।

मनुस्मृति—

श्रुतिस्तु वेदो विज्ञेयो धर्मशास्त्रं तु वै स्मृतिः।

श्रुति वेद का नाम है और स्मृति धर्मशास्त्र का। वेद चार तो प्रसिद्ध ही हैं जिनके नाम ऊपर कह चुके हैं। अब धर्मशास्त्रों के नाम बतलाते हैं जो संख्या में मुख्य बीस हैं। प्रमाण उस का याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है। यथा—

मन्वात्रिविष्णुहारीतयाज्ञवल्क्योशनाऽङ्गिराः।
यमापस्तम्बसंवर्ताः कात्यायनबृहस्पती॥
पराशरव्यासशंख लिखितादत्तगौतमौ।
शातातपो वशिष्ठश्च धर्मशास्त्रप्रयोजकाः॥

मनु १ अत्रि २ विष्णु ३ हारीत ४ याज्ञवल्क्य ५ उशना ६ अङ्गिरा ७ यम ८ आपस्तम्ब ९ संवर्त १० कात्यायन ११ बृहस्पति १२ पराशर १३ व्यास १४ शंख १५ लिखित १६ दक्ष १७ गौतम १८ शातातप १९ वशिष्ठ २० इन्हीं बीसों महर्षियों की कही हुई धर्म-व्यवस्था उन्हीं २ के नाम की स्मृतियाँ प्रसिद्ध हैं। जहाँ कहीं इनमें विरोध होवे तो उसको यदि श्रुति के अनुसार है विकल्प जानना चाहिए और जो कि श्रीमद्देवीभागवत में तीनही मूल धर्म के कहे हैं जिन में पाँचों अन्तर्गत हैं। यथा नीचे लिखे जाते हैं—

श्रुतिस्मृती उभे नेत्रे पुराणं हृदयं स्मृतम्।
एतत्त्रयोक्तं एव स्यात् धर्म्मो नान्यत्र कुत्रचित्॥

श्रुति, स्मृति यह दो नेत्र हैं और पुराण अर्थात् सदाचार हृदय; इन्हीं तीनों में कहा हुआ धर्म है इन से विरुद्ध जो अन्यत्र का कहा होवै वह अधर्म। इस

रीति से श्रुति, स्मृति, सदाचार यही तीन धर्म के मूल हैं। अब इन तीनों में परस्पर विरोध की अवस्था में क्या कर्तव्य है सो कहते हैं। जिसका प्रमाण मनुस्मृति में यह है—

स्मृत्याचारविरोधे तु स्मृतिरेव बलीयसी।
श्रुतिःस्मृतिविरोधे तु श्रुतिरेव गरीयसी॥
श्रुतिद्वैधं तु यत्र स्यात् तत्र धर्मावुभौ स्मृतौ।
धर्मजिज्ञासमानानां प्रमाणं परमं श्रुतिः॥

जब कभी धर्म-व्यवस्था में स्मृति व सदाचार में परस्पर विरोध होवै तो स्मृति का कहा हुआ धर्म बली जानना और जहाँ श्रुति व स्मृति में परस्पर विरोध आवै वहाँ श्रुति ही का प्रमाण गरिष्ठ मानना चाहिए और श्रुति में भी जब एकही पदार्थ पर दो प्रकार के वाक्य आवैं तो दोनों को विकल्प पक्ष में धर्म मानना चाहिये क्योंकि धर्म-जिज्ञासुओं को वेद ही परम प्रमाण है उससे विरुद्ध कभी कोई अन्य वाक्य

न मानना चाहिए क्योंकि हेतु शास्त्राश्रयी मनुष्य, से नास्तिक, वेदनिन्दक, सत्पुरुष विद्वानों की मण्डली बाहर कर देने योग्य है और अन्त में यम-यातना भोगता है। यथा देवीभागवत में कहा है—

यो वेदधर्ममुज्झित्य वर्ततेऽन्यप्रमाणतः।
कुण्डानि तस्य शिक्षार्थं यमलोके वसंति हि॥

जो मनुष्य वेद-विहित धर्म छोड़ कर उससे विरुद्ध अन्यत्र कहे हुए धर्मों पर चलता है उसको शिक्षा देने के निमित्त यमलोक में महा भयानक क्लेशकारी कुंड बने हुए हैं।

—:०:—

पाठ ५

धर्म-प्रचारक देश

श्रुति में कहे हुए धर्म को श्रुति और स्मृति में कहे हुए को स्मार्त धर्म कहा है जिसकी व्यवस्था हो चुकी है। अब सदाचार की कुछ व्यवस्था अपे-

क्षित है। जो शिष्ट पुरुषों के आचरित धर्म परम्परा से चले आते हैं उनके विषय में व श्रौत-स्मार्त धर्म के प्रचार में मनुजी का वाक्य प्रमाण है जो निम्न लिखित है—

सरस्वती दृषद्वत्योर्देवनद्योर्यदन्तरम् ।
तं देवनिर्मितं देशं ब्रह्मावर्तं प्रचक्षते ॥१॥
तस्मिन्देशे य आचारः पारंपर्यक्रमागतः ।
वर्णानां सान्तरालाना स सदाचार उच्यते॥२॥

सरस्वती और दृषद्वती नाम दोनों देवनदियों के मध्य में जो प्रदेश है वह साक्षात् देवताओं का बनाया हुआ है अर्थात् सृष्टि की आदि में जब प्रथम देवसृष्टि हुई तब उसने इसी देश में वास करना स्वीकार किया इस कारण इस देश को ब्रह्मावर्त कहते हैं ॥१॥ प्रायः शिष्टों के उत्पन्न होने से उन देशों में जो ब्राह्मणों से लेकर वर्णसंकर पर्य्यन्त परम्परा के क्रम से चला आया हुआ आचार है वह सदाचार कहलाता है और

यह सदाचार इस पुण्यभूमि आर्यावर्त के बाह्या-भ्यन्तर कुल, जाति, ग्राम, देशादि के भेदानुसार सर्वत्र व्याप्त हो रहा है और युगानुरूप शिष्टों के प्रभाव से विविध प्रकारों में परिवर्तित होता जाता है। इस विषय में श्रीभगवान् स्वयम्भू मनुजी का वाक्य प्रमाण है। यथा—

कुरुक्षेत्रं च मत्स्याश्च पञ्चालाः शूरसेनकाः।
एष ब्रह्मर्षिदेशो वै ब्रह्मावर्तादनन्तरः ॥१॥
एतद्देशप्रसूतस्य सकाशादग्रजन्मनः।
स्वं स्वं चरित्रं शिक्षेरन् पृथिव्यां सर्व मानवाः २

कुरुक्षेत्र, और मत्स्य आदि देश पञ्चाल अर्थात् पञ्च नद वा कान्यकुब्ज देश व शूरसेन कहिये मथुरा के देश ये ब्रह्मर्षि देश कहलाते हैं और ब्रह्मावर्त देश से कुछ न्यून हैं ॥१॥ इन्हीं कुरुक्षेत्रादि देशों में उत्पन्न हुए ब्राह्मणों से सम्पूर्ण संसार के मनुष्य अपने अपने धर्म-आचरण सीखें अब मध्य देश व

आर्य्यावर्त देश जो द्विजातियों के सेवन करने योग्य है अर्थात् यही पुण्यभूमि श्रौत-स्मार्त कर्मों के अनुष्ठान करने योग्य है। इसका प्रमाण मनुस्मृति में ऐसा लिखा है—

हिमवद्विन्ध्ययोर्मध्ये यत्प्राग्विनशनादपि।
प्रत्यगेव प्रयागाच्च मध्यदेशः प्रकीर्तितः ॥१॥
आसमुद्रात्तु वै पूर्वादासमुद्रात्तु पश्चिमात्।
तयोरेवान्तरं गिर्योरार्यावर्तं विदुर्बुधाः ॥२॥

हिमालय के दक्षिण व विन्ध्याचल के उत्तर अर्थात् दोनों पर्वतों के मध्य का वह देश जो विनशन नाम सरस्वती नदी के गुप्त होने का स्थान है उस से पूर्व और प्रयाग से पश्चिम है मध्य देश कहलाता है ॥१॥ और उन्हीं दोनों पर्वतों के मध्य की भूमि पूर्व और पश्चिम में समुद्र पर्य्यन्त की सीमावधि आर्यावर्त कहलाता है। परन्तु यह संज्ञा उस समय की है कि आर्य-लोग जब तक विन्ध्याचल के दक्षिण नहीं

बसे थे अब तो सारा भारतवर्ष कुमारी अन्तरीप तक और पूर्व आसाम आदि तक आर्यावर्त ही कहलाता है, जो श्रौत-स्मार्त व सदाचार धर्म का प्रचारक है।

—:o:—

पाठ ६

धर्म-संस्कार

संस्कार एक ऐसा पदार्थ है कि जिसके बिना संसार में कोई वस्तु किसी व्यवहार के योग्य नहीं हो सकती यद्यपि वह कैसा ही उत्तम भाव की हो जैसे रेशम जब कीड़ों से निकाला जाता है उसके कितने संस्कार करने पड़ते हैं तब मनुष्यों के धारण करने के योग्य होता है, और, लोहा जब खानि से निकाला जाता है तो बिना संस्कार किये वह उन पदार्थों से जो मिट्टी पत्थर आदि मिले रहते हैं शुद्ध नहीं होता और बिना स्वच्छ हुए किसी पदार्थ के बनाने के काम में भी नहीं आ सकता इसी प्रकार

मनुष्यों का भी संस्कार संसार के व्यवहारों के निमित्त अवश्य होना चाहिए और यह तो सिद्ध ही है कि जिसका जितना ही संस्कार होता है उसमें उतनी ही योग्यता आती जाती है। इसी प्रयोजन से मनुष्यों के निमित्त विशेष कर द्विजातियों के अर्थ षोडश संस्कार गर्भाधान से लेकर विवाह पर्य्यन्त महर्षियों ने धर्म-शास्त्रों में बतलाये हैं जिनको समस्त व्यस्त यथा-संभव देशकालानुसार मनुष्य अवश्य ही करते हैं और जानते भी हैं। विशेष परिज्ञान के अर्थ नाम उन के नीचे लिखे हैं—

गर्भाधानमतश्च पुंसवनकं
सीमंत जाताभिधं,
नामाख्यं सह निष्क्रमेण च तथा-
ऽन्नप्राशनं कर्म च।
चूडाख्यं व्रतबन्धकोप्यथ चतु-
र्वेदो व्रतानां पुरः।

केशान्तः सविसर्गकः परिणायः
स्यात् षोडशः कर्मणः ॥

गर्भाधान १ पुंसवन २ सीमंत ३ जातकर्म ४ नामकरण ५ निष्क्रमण ६ अन्नप्राशन ७ चूडाकर्म ८ व्रतबंध ६ चतुर्वेद-व्रत १३ केशान्त १४ विसर्ग कहे समावर्तन १५ परिणाय नाम विवाह १६ इन सोरहों संस्कारों के करने से अनेक प्रकार की अशुद्धतायें दूर हो जाती हैं और शुद्ध शरीर मनुष्य व्यवहार के अर्थ निकल आता है जैसा कि इन संस्कारों का फल कारण-सहित स्वयम्भू भगवान् मनुजी ने मनुस्मृति में कहा है वह यह है--

गार्भैर्होमैर्जातकर्म चौलमौञ्जीनिबंधनैः ।
बैजिकं गार्भिकं चैनो द्विजानामपमृज्यते ॥१॥
स्वाध्यायेन व्रतैर्होमैस्त्रैविद्येनेज्यया सुतैः ।
महा यज्ञैश्च यज्ञैश्च ब्राह्मीयं क्रियते तनुः २

गार्भ कहिये जो गर्भ की शुद्धि के अर्थ संस्कार

किया जावें और होम व जातकर्म व चूड़ाकरण व यज्ञोपवीत इन सब संस्कारों अर्थात् कर्मों करके बैजिक कहिये प्रतिषिद्ध मैथुन के संकल्प आदि से पिता के वीर्य के दोष से जो पाप होता है और गार्भिक कहिये मल मूत्रादि युक्त अशुचि माता के गर्भ में वास करने से उत्पन्न भया हुआ जो पाप यह सब अर्थात् बैजिक व गार्भिक दोनों प्रकार के पाप नष्ट हो जाते हैं और शरीर शुद्ध हो जाता है कि जिसके पश्चात् मनुष्य किसी योग्य बन जाता है १ और स्वाध्याय कहिये वेद पढ़ने से व व्रत कहिये ब्रह्मचर्य्य आचरण से व प्रातः सायंकाल के समय होम करने से त्रैविद्य नाम व्रत अथवा कर्म उपासना ज्ञान के अनुष्ठान से इज्या कहिये देव ऋषि आदिक के पूजन करने से और पुत्रोत्पादन करने से और महायज्ञ जो पांच हैं जिनके नाम याज्ञवल्क्य स्मृति के प्रमाण से यह हैं—

बलिकर्मस्वधाहोमस्वाध्यायातिथिसात्क्रियाः ।
भूतपितृमरब्रह्म मनुष्याणां महा मखाः ॥

बलि कर्म भूतयज्ञ है १ स्वधा पितृयज्ञ २ होम देवयज्ञ ३ स्वाध्याय ब्रह्मयज्ञ ४ अतिथि सत्कार मनुष्ययज्ञ ५ इनके करने से और यज्ञ कहिये अन्य ज्योतिष्टोमादि तिसके करने से मनुष्य ब्राह्मीय कहिये ब्रह्म के प्राप्ति करने के योग्य शरीर किया जाता है। इस रीति से संस्कारों द्वारा योग्यता प्राप्त होने पर मनुष्यों को व्यवहारों पर दृष्टि देनी चाहिये और इस स प्रथम कि मनुष्य-व्यवहार-परायण होवे अपना आधार अर्थात् आश्रम नियत कर रखना आवश्यक है क्योंकि यह न्यायसिद्ध बात है कि बिना आधार कोई कार्य हो नहीं सकता इसी कारण महर्षियों ने वेदाशय लेकर चार वर्ण व चार आश्रम नियत कर रक्खे हैं जैसा कि श्रीकृष्ण भगवान् ने गीता में कहा है—

चातुर्वर्ण्यं मया सृष्टं गुणकर्मविभागशः ।

गुण कर्म के विभाग से मैंने चार वर्ण संसार में रचे हैं और कूर्मपुराण में कहा है कि--

वर्णाश्रमाचारवतां पुंसां देवो महेश्वरः ।

वर्णाश्रम आचार पर चलने वाले मनुष्यों का देवता महेश्वर है न कि उसके विरुद्ध चलने वालों का। यथा—

मार्कण्डेयपुराणे

स्ववर्णाश्रमधर्म्माद्धि नरः प्राप्नोति सिद्धिताम् ।
प्रयाति नरकं प्रेत्य प्रतिषिद्धनिषेवणात् ॥

अपने वर्णाश्रम धर्म सेवन करने से मनुष्य सिद्धि पाते हैं, विरुद्धानुष्ठान से नरक को जाते हैं। सो वर्ण व्यवस्था की तो विशेष वार्ता करनी नहीं है क्योंकि साधारणतः मनुष्य अपने २ वर्ण पर टिके ही हैं, रहा आश्रम वह संस्कार होने पश्चात् ब्रह्मचर्य्य अवस्था आती है जिसमें गुरु के निकट पाठशाला में जा कर विद्याध्ययन करना चाहिये । यथा--

मार्कण्डेयपुराणे

कृतोपनयनः सम्यग्ब्रह्मचारी गुरोर्गृहे वसेत् ।

जब बालक का यज्ञोपवीत हो जावे अथवा पढ़ने योग्य अवस्था को प्राप्त हो तो ब्रह्मचर्य्य-व्रत में आरूढ़ हो विद्या पढ़ने के निमित्त पाठशाला में गुरु के आश्रित होवे और उसी अनुष्ठान से चौबीस वर्ष वय पर्य्यन्त विद्याध्ययन कर गृहस्थाश्रम में आवे अर्थात् विवाह कर गृहस्थधर्म स्वीकार करै जैसा कि मनुजी ने कहा है । यथा—

चतुर्थमायुषो भागमुषित्वाद्यं गुरौ द्विजः ।
द्वितीयमायुषो भागं कृतदारो गृहे वसेत् ॥

मनुष्य की पूर्णायु शत वर्ष की शास्त्रकारों ने लिखी है और वेद-मंत्रों से भी सिद्ध है । सो उस आयु का प्रथम चौथाई भाग अर्थात् पचीस वर्ष गुरु के निकट बस कर व्यतीत करना चाहिए और दूसरे चौथाई भाग को अर्थात् पचीस वर्ष की अवस्था के ऊपर पचास वर्ष की वय पर्य्यन्त

गृहस्थाश्रम के व्यापार में उसके धर्मानुसार व्यतीत करै—और तीसरी चौथाई को वानप्रस्थ आश्रम में व चौथी चौथाई को अर्थात् पचहत्तर वर्ष के ऊपर संन्यासाश्रम में व्यतीत करे—यह तो सनातन से धर्म चला आता है परन्तु कलिधर्म में वानप्रस्थ व संन्यासाश्रम को देश काल की व्यवस्था से वर्जित कर रक्खा है क्योंकि इस समय उसमें यथार्थ कर बड़े २ क्लेशकारी विघ्न होते हैं—और प्रथम व द्वितीय आश्रम अर्थात् ब्रह्मचर्य्य व गृहस्थाश्रम प्रचलित हैं तिसमें भी ब्रह्मचर्य्य की प्रणाली आज कल बहुत ही बिगड़ गई है। प्रायः लोग मोह माया के वश में होकर बालकों की पुष्टता बल वीर्य आयु बुद्धि आदि की ओर ध्यान न कर उनका बाल अवस्था ही में विवाह कर देते हैं और बड़ी २ हानि उठाते हैं जिसमें अपने कर्तव्यों के दोष के स्थान पर दैव का दोष देकर अपनी कादरता प्रकट करते हैं और यद्यपि

नाना प्रकार के विघ्न होते रहते हैं परन्तु आँख उठा कर नहीं देखते जैसे अनेक प्रकार के रोगों में ग्रस्त होना व दुर्बलता आदि के कारणों से वास्तविक स्मरणशक्ति से वंचित रहना व पचीस वर्ष की अवस्था के अभ्यन्तर मरण प्राप्त होना व उनकी स्त्रियाँ जो विधवा होकर घरों में पड़ी रहती हैं ततसंबन्धी अनेक प्रकार के दुःखों का सहना आदि बाल-विवाहों के दोष प्रसिद्ध हैं। इन्हीं सब व अन्य और कारणों से भी त्रिकालज्ञ महात्मा पराशर-मुनि ने बृहत्पाराशर होरा में जो जातक का ग्रन्थ है प्रमाण दे रक्खा है—

चतुर्विंशति वर्षाणि यावद् गच्छन्ति जन्मनः।
जन्मारिष्टं तु तावत् स्यादायुर्दायं न चिन्तयेत्॥

जन्म होने के समय से जब तक चौबीस वर्ष व्यतीत नहीं हो जाता तब तक जन्म अरिष्ट ही जानना चाहिये उसके आयुर्बल का कुछ विचार न

करे तब तक अनेकों प्रकार के विघ्नों, अनाचारों, संसर्ग दोषादि विविध प्रकार की बाधाओं से बालकों की रक्षा ही करना समुचित है। जब चौबीस वर्ष की अवस्था हो जावे तो ब्रह्मचर्य्य अवस्था से गृहस्थ आश्रम में आने के निमित्त देशकुलानुसार वेदोक्त रीति से विवाह करे। यह प्रसिद्ध बात है कि आज प्रति सैकड़ा प्रायः पचहत्तर मृत्यु ऐसी ही होती हैं जो पचीस वर्ष के भीतर की अवस्था की हैं इसी कारण से पचीस वर्ष की अवस्था का समय देख कर तो विवाहादिक कर्म में प्रवृत्त होना चाहिये।

—:o:—

द्वितीय प्रकरण व्यवहार पर

पाठ १

व्यवहार-व्यवस्था

व्यवहार पद एक ऐसा पदार्थ है कि जिसके बिना संसार का कोई कार्य कदापि नहीं हो सकता है। कार्य होना तो क्या जगत की मर्य्यादा ही मिट जाती है और वही दशा प्राप्त हो जाती है जो धर्म की हीनता में होती है। इससे जानना चाहिए कि उस महाशय धर्म पद से इस व्यवहार पद में विशेष अन्तर नहीं है। उसी निश्चल धर्म पदार्थ के व्यापार को अथवा अनुष्ठान को व्यवहार कहते हैं, जिस व्यवहार को हमारे भारतनिवासी जन अपने प्राण से भी अधिकतर प्रिय जानने के कारण वह विशद यश इस समय तक, यद्यपि उन

को लाखों करोड़ों वर्ष व्यतीत हो गये, सम्पूर्ण धरातल के मनुष्यों में पा रहे हैं कि जिस यश का पाना औरों को अत्यन्त ही दुर्लभ ज्ञात होता है। जैसे दधीचि ऋषि का अपने स्वामी देवराज इन्द्र को सजीव शरीर अस्थि के निमित्त दे देना व राजा शिवि का एक पक्षी की रक्षा के निमित्त अपने शरीर से मांस काट २ कर सब दे देना व राजा मोरध्वज का अपने पुत्र को आरा से अतिथि के सत्कार-निमित्त चीरना व रानी-सहित खेद न करना इत्यादिक कठिन २ धर्म के व्यवहार सदा काल से चले आते हैं, और इस लोक-व्यवहार को वास्तविक निर्वाह करने के निमित्त साक्षात् नारायण के अवतार राम, कृष्ण आदिक स्वीकार करते आये हैं। जैसे रामचन्द्रजी को पिता की आज्ञा से निर्दोष अवस्था में वनवास को जाना व परम पवित्र अग्निपूत महारानी जानकीजी को लोक-व्यवहारार्थ त्याग देना इत्यादि लोकाचार-परायण होकर सर्वसाधारण मनुष्यों की

प्रवृत्ति के प्रयोजन व्यवहार करते आये हैं जैसा कि भगवद्गीता में कृष्ण भगवान् ने कहा है—

न मे पार्थास्ति कर्तव्यं त्रिषु लोकेषु किंचन।
नानवाप्तमवाप्तव्यं वर्त एव च कर्मणि॥
यदि ह्यहं न वर्तेयं जातु कर्मण्यतन्द्रितः।
मम वर्त्मानुवर्तन्ते मनुष्याः पार्थ सर्वशः॥

हे अर्जुन! तीनों लोक में मुझ को कुछ कर्तव्य नहीं है अर्थात् जिसको मैंने न किया हो और वह करने के योग्य हो; और ऐसा भी नहीं है कि जो प्राप्त करने के योग्य कोई पदार्थ होवै और मैं उसको न प्राप्त कर चुका हूँ। क्योंकि यह सारा आडम्बर जो देखने सुनने में आता है मेरी ही माया का बनाया हुआ है परन्तु तब भी लोगों को सिखाने के निमित्त व्यवहार करने में प्रवृत्त ही हो रहा हूँ क्योंकि यदि मैं आलस्य छोड़कर सावधानी से कर्मव्यवहारों को न करूं तो हे पार्थ! सब लोग मेरी ही चाल पर चलने लगें अर्थात्

निरर्थक जानकर वे भी ठीक २ कर्म न करें क्योंकि साधारण लोग शिष्टों का ही आचार ग्रहण करते हैं। उन को सत् असत् आदि का कुछ विचार नहीं होता। मेषीपतन न्याय से देखा देखी सारा काम किया करते हैं जैसा कि गीता का वाक्य है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥

श्रेष्ठ पुरुष जो जो आचरण करता है उसी के अनुसार दूसरे लोग भी करने लगते हैं और वह उत्तम पुरुष जिस पदार्थ का प्रमाण करता है उसी को अन्य सब लोग भी प्रमाण कर लेते हैं। इस से मनुष्यों को उचित है कि अपने उसी श्रौतस्मार्त सदाचार के अनुसार सदाकाल व्यवहार करता रहै चाहै उस पर कितनी ही विपत्ति वा विघ्न आन पड़े परन्तु अपनी शक्ति भर नीति-व्यवहार न छोड़ना ही सत्पुरुषों का लक्षण है। जैसा कि रामायणे—

दोहा—

भूमि न छोड़त कपि चरण देखत रिपु मदभाग।
कोटि विघ्न जिमि संत कह तदपि नीति नहिं त्याग

यह उस समय की बात है कि जब अंगद ने अपना चरण रावण की सभा में टेक दिया था और किसी के उठाये नहीं उठ सका तो सब हार बैठे। यद्यपि बड़े २ योद्धाओं ने बड़े २ प्रयत्न से उठाने के निमित्त उद्योग किये। इसी भांति मनुष्यों को अपने धर्म के व्यवहारों में अचल रहना चाहिए जिस से लोक में सब प्रकार के सुख, सम्पत्ति, यश, संतति के साथ जीवन व्यतीत होने पर भी शुभ कीर्ति के साथ नाम शेष रह जावै। इस प्रयोजन से दृष्टान्तों के साथ व्यवहार सर्वोपरि धरानाथ मान्यवर्य्य महाराज सम्राट् से लेकर संसार के सामान्य मनुष्य पर्य्यन्त के साथ करने का श्रौत स्मार्त सदाचार द्वारा इस प्रकरण में दिखाया जाता है जिस पर मनुष्यों को दत्तचित्त होना चाहिए।

पाठ २

राज-स्वरूप

प्रकट हो कि राजन् शब्द जिस का प्रयोजनीय अर्थ महाकवि कालिदासजी ने अपने विश्व-विख्यात महाकाव्य रघुवंश में प्रजागणों का रञ्जन करनेवाला लिखा है, **राजृ** धातु से जिस का अर्थ दीप्तिपद अर्थात् प्रकाश करने के अर्थ का वाचक है, उणादिगण का **कनिन्** प्रत्यय मिलकर बना हुआ है और **दिवु** धातु जिस से देव शब्द बनता है वह भी दीप्ति अर्थ का वाचक है। इसी प्रमाण से राज धातु व दिवु धातु से बना हुआ पद अर्थात् राजन् शब्द व देव शब्द दोनों तुल्यार्थ धातु से बनने के कारण समान अर्थ के होते हैं अर्थात् राजा साक्षात् देव-तुल्य है जिस का प्रमाण वेदव्यास बादरायण जनक पराशर मुनि कथित बृहत्पाराशर धर्मशास्त्र में प्रसिद्ध है जो यह है—

भूभृद् भूमौ परो देवः पूज्योसौ परदेववत् ।
स विधाता हि सर्वस्य रक्षिता शासिता च सः ॥

भूमि का भरण-पोषण करनेवाला पृथ्वीनाथ साक्षात् परमदेव अर्थात् देवगणों में जो सब से उत्कृष्ट पद परमेश्वर के तुल्य है इस कारण उसी परमदेव विश्वेश्वर के तुल्य नवधा भक्ति से राजा का पूजन करना चाहिए। आधे श्लोक से पराशर जी राजा को ईश्वर के बराबर होने का कारण दिखलाते हैं कि जिस प्रकार परमेश्वर तीनों गुणों को ग्रहण कर संसार का सृजन पालन संहरण करते हैं उसी भांति से राजा भी सब मनुष्यों व प्राणियों को विधान कर्ता है व रक्षा करता हुआ दंड देने योग्य मनुष्यों को अपने नियमानुसार दंड देता है—और ऐसा ही रघुवंश में भी महा कवि कालिदासजी ने कहा है—

प्रजानां विनयाधानाद्रक्षणाद्भरणादपि ।
स पिता पितरस्तासां केवलं जन्महेतवः ॥

सम्पूर्ण प्रजागण के विनय आधान करने से और उनको चौरादि दुष्ट जीवों के उपद्रव से परिरक्षित रखने से और सेवा-प्रसादादि द्वारा उनको सम्यक् पालन-पोषण करने से राजा ही को पिता जानना चाहिये क्योंकि उनके पिता तो केवल जन्म के कारण हैं और राजा अर्थ, धर्म, काम त्रिवर्ग के साधन का मूल कारण है कि जिसके बिना लौकिक, पारलौकिक कोई व्यवहार सिद्ध नहीं हो सकता जैसा कि भगवान् स्वयम्भू मनु ने अपने धर्म्मशास्त्र में लिखा है—

अराजके हि लोकेऽस्मिन्सर्वतो विद्रुते भयात्।
रक्षार्थमस्य सर्वस्य राजानमसृजत्प्रभुः॥

इस लोक में बिना राजा के चारों ओर से उपद्रव उठने व जगत् के चलायमान होने के भय से इस सब चराचर की रक्षा करने के निमित्त परमात्मा ने राजा को उत्पन्न किया है। अब यह जानना चाहिये

कि राजा की तुलना जो देवता के साथ सिद्ध की गई है तो उसके जन्म में भी ऐसा प्रमाण होना आवश्यक है कि जिससे वास्तविक प्रतीत हो जावै कि राजा साक्षात् देवस्वरूप ही है। प्रमाण उसका बृहत्पाराशर स्मृति में है कि साक्षात् देवताओं का अंश राजा म रहता है। यथा—

इन्द्राग्नियमवित्तेशजलेशमातरिश्वनाम् ।
शीतांश्वर्कयोश्चांशैर्ब्रह्मादयोऽसृजन्नृपम् ॥
नृपो वेधा नृपः शम्भुर्नृपोऽर्को विष्टरश्रवाः ।
दाता हर्ता नृपः कर्ता नृणां कर्मानुसारतः ॥

आठों लोकपालों के अंश से राजा का जन्म होता है अर्थात् इन्द्र, अग्नि, यम, कुवेर, वरुण, वायु, सूर्य, चन्द्रमा इन्हीं सबों के सारभूत अंश को लेकर ब्रह्मादि देव राजा को बनाये हैं इससे राजाही ब्रह्मा है और राजाही शंभु व राजा ही आदित्य और विष्णु हैं क्योंकि मनुष्यों का कर्ता, दाता, हर्ता आदि उनके

कर्म के अनुसार सब राजाही है। इससे सम्पूर्ण मनुष्यों से आधिक पराक्रमी व सर्वोपरि है जैसा कि मनुस्मृति में कहा गया है—

बालोऽपि नावमन्तव्यो मनुष्य इति भूमिपः।
महती देवता ह्येषा नररूपेण तिष्ठति॥

राजा चाहै बालक भी होवै परन्तु उसको मनुष्य के तुल्य समझ कर अपमान करना किसी दशा में योग्य नहीं है क्योंकि एक बड़ी भारी देवतों की शक्ति समूह मनुष्य के रूप में स्थित है ऐसा जानना चाहिये जिससे कि उसके तेज के सामने कोई नहीं पड़ सकता है और न आँख से उसकी तेजरूपी महती ज्वाला को देख सकता है, न निकट जा सकता है। अग्नि ज्वाला से अधिक तेज राजाओं का मनुजी ने कहा है। यथा—

एकमेव दहत्यग्निर्नरं दुरुपसर्पिणम्।
कुलं दहति राजाग्निः सपशुद्रव्यसंचयम्॥

जो असावधानी से अग्नि के समीप जाता है वह दुरुपसर्पी कहलाता है। उसी एक को अग्नि जलाता है न कि उसके पुत्रादि को। और राजा के क्रोध से उत्पन्नभूत अग्नि स्त्री, पुत्र, भाई आदि सब कुल को और गौ, घोड़े इत्यादि पशु व सुवर्ण आदि धन-संचय समेत दोषी को मारता है क्योंकि देश काल आदि के अनुसार राजा अपनी दैवी तत्त्व को प्रकट करता है जैसा कि मनुजी ने अपने धर्मशास्त्र में कहा है—

कार्यं सोऽवेक्ष्य शक्तिं च देशकालौ च तत्त्वतः।
कुरुते धर्मसिद्धयर्थं विश्वरूपं पुनः पुनः॥

वह राजा प्रयोजन की अपेक्षा से देश काल तथा अपनी शक्ति को देख कर कार्य की सिद्धि के निमित्त बारंबार बहुत से रूपों को धारण करता है जैसा कि बृहत्पाराशर में लिखा है—

हर्यश्ववन्हियमवित्तनाथ
शीतांशु रूपाणि हि बिभ्रतीह।

सर्वेऽपि भूपास्त्विह पंचरूपा-
स्तत्कथ्यमानं शृणुत द्विजेन्द्राः ॥

आठ लोकपालों के अंश से राजा का आविर्भाव होना जो प्रथम कह चुके हैं अब उन्हीं आठों में से मुख्य पांच तत्त्व को ग्रहण कर समयानुसार राजा अपने शरीर को पांच देवों के स्वरूप में कर अर्थात् इन्द्र, अग्नि, यम, कुवेर, चन्द्रमा हो कर भासित होता है—तात्पर्य्य यह कि जब जैसा प्रयोजन पड़ता है तब उसी के अनुसार इन्हीं पांचों स्वरूपों से एक को धारण कर कार्य साधन करता है--यथा बृहत्पाराशरे—

यदा जिगीषुर्धृतशस्त्रपाणि-
स्त्विषुं समालंब्य सचिह्नसैन्यः ।
सर्वान्सपत्नानिह जेतुकाम-
स्तदा सहर्यश्व इवेह भाति ॥

जिस समय राजा विजय की अभिलाषा करके अपने शत्रुगणों के जीतने के निमित्त अपनी सम्पूर्ण सेना-

समूह व ध्वजा-पताका आदि चिह्नों के साहित शस्त्र-पाणि शोभित होता है तो उस समय इन्द्र देव का स्वरूप भासित होता है।

अकारणात्कारणतोपि चैष
प्रजां दहेत्कोपसमिद्धरोचिः।
यदा तदैनं नृपतीति विद्वा-
स्तनूनपादं प्रवदन्ति रूपम् ॥

जब कभी राजा किसी कारण से अथवा निरा-कारण प्रजा को क्रोधरूपी अग्नि से पीड़ित करता है तब अग्नि देवता का स्वरूप ग्रहण करता है।

धर्मासनस्थः श्रुतिशास्त्रदृष्ट्या
शुभाशुभाचारविचारकृत्स्यात्।
धर्मेषु दानं त्वघकृत्सु दंडं
तदावनीशस्त्विह धर्मराजः ॥

जिस समय राजा धर्म-सभा में बैठ कर श्रुति-शास्त्र के नियमानुसार शुभ अशुभ कर्मों को विचार

करता है और धर्म-मार्ग पर टिके मनुष्यों को प्रसाद-दान व पापकारी मनुष्यों को दंड देता है तब उसको धर्मराज यम का स्वरूप जानना चाहिये ।

यदा त्वमात्य द्विज याचकादीन्
प्रहृष्टचित्तस्तु यथोचितेन ।
धनप्रदानेन करोति हृष्टां
भूभृत्तदासौ द्रविणेशवत्स्यात् ॥

जब राजा प्रसन्न-चित्त होकर यथोचित प्रकार से मंत्रियों वा ब्राह्मणों और जांचकों आदि लोगों को धन देकर प्रसन्न करता है उस समय कुवेर का स्वरूप जानना चाहिए ।

समस्तशीतांशुगुणप्रयुक्तां
यदा प्रजामेष शुभाय पश्येत् ।
प्रसन्नमूर्तिर्गतमत्सरः सं-
स्तदोच्यते सोम इव क्षितीशः ॥

प्रजागणों के सम्पर्ण दुःख क्लेशों को दूर करके

उन को सम्यक् प्रकार से आनन्दित कर प्रसन्न-चित्त मत्सरहीन राजा जब उन को अवलोकन करता है तब चन्द्रमा का स्वरूप ग्रहण किये हुए रहता है। और इसी प्रकार से राजा को सर्वोपरि तेजो-स्वरूप जानना चाहिए जिस से कि सम्पूर्ण कार्य हानि-लाभ इत्यादि उसी के आधार है जैसा कि मनुजी ने मानवधर्मशास्त्र में कहा है—

यस्य प्रसादे पद्मा श्रीर्विजयश्च पराक्रमे।
मृत्युश्च वसति क्रोधे सर्वतेजोमयो हि सः॥
तं यस्तु द्वेष्टि संमोहात्स विनश्यत्यसंशयम्।
तस्य ह्याशु विनाशाय राजा प्रकुरुते मनः॥

जिस से कि राजा की प्रसन्नता में सदाकाल लक्ष्मी वसी हुई रहती है इस से लक्ष्मी की प्राप्ति होने की इच्छा रखनेवाले मनुष्यों को राज-सेवा करनी योग्य है और जिस के पराक्रम में विजय व शोभा का स्थान है इस से मनुष्यों को उचित है कि यश,

बड़ाई आदि से सुशोभित होने की इच्छा रखनेवाले व चौरादि दुष्ट जीवों के उपद्रवों से विजय पाने अर्थात् रक्षित रहने की इच्छा रखनेवाले जन राज-सेवा में परायण रहैं और जिस के क्रोध में मृत्यु का वास रहता है अर्थात् जिस पर क्रोध करता है उस को मारता है इस से जो पुरुष उस राज को पानल में पड़कर जल मर जाने से रक्षित रहकर अपना जीवन धारण किये रहना चाहै वह कदापि राजनियम के प्रतिकूल कोई ऐसा काम न करै कि जिस से राजा को क्रोध करके अग्नि सूर्य का तेज धारण करने का अवसर मिले क्योंकि उस दशा में क्रोध करानेवाली दोषी प्रजा का सत्यानाश हो जाता है जिस से कि राजा उस द्वेषकारी प्रजा के नाश करने में चित्त लगाता है जो कि अपनी मूर्खता से अपने स्वामी को अप्रसन्न कराती है। इस कारण से सम्पूर्ण धर्मा-वलम्बी पुरुषों को अपने सनातन धर्म के अनुसार

राज-व्यवस्था पर अर्थात् सम्राट् महाराज के नियमित नियमों पर आरूढ़ रहना चाहिए क्योंकि ऐसा ही धर्म मनु जी ने कहा है।

तस्माद्धर्मं यमिष्टेषु स व्यवस्येन्नराधिपः।
अनिष्टं चाप्यनिष्टेषु तं धर्मं न विचालयेत्॥

जिस से कि राजा सर्वतेजोमय है और ऊपर कहे हुए सब गुण भी उस में टिके हुए रहते हैं इस से राजा की बाँधी हुई नियमावली को कभी उल्लंघन न करना चाहिए क्योंकि उस नियम के न माननेवालों के निमित्त वक्ष्यमाण प्रमाणों में जो हमारे सनातन-धर्म के मूल हैं वास्तविक उपाय कहे हैं। इससे राजा जो शास्त्रानुष्ठेय विधि अर्थात् जो व्यवहार देश-काल-पात्र आदि के अनुसार श्रौतस्मार्त सदाचार के अविरुद्ध स्थापित करता है और अनपेक्षित विषयों में जो अनिष्ट अर्थात् निषेध कार्य्य नियमित करता है, प्रजागण को

उसी राज-व्यवस्था पर चलना चाहिए नहीं तो अन्यथा दंडभागी होना पड़ता है। यथा मनु—

—:०:—

पाठ ३

राज-दण्ड-महिमा

तस्यार्थे सर्वभूताना गोप्तारधर्ममात्मजम्।
ब्रह्मतेजोमयं दंडमसृजत्पूर्वमीश्वरः॥
तस्य सर्वाणि भूतानि स्थावराणि चराणि च।
भयाद्भोगाय कल्पन्ते स्वधर्म्मान्न चलन्ति च॥

उस राजा के प्रयोजन सिद्ध होने के अर्थ अर्थात् उसकी चलाई हुई राज-व्यवस्था वास्तविक प्रचलित होने के निमित्त सम्पूर्ण प्राणिमात्रों के रक्षक व ब्रह्म के केवल तेज का स्वरूप धर्म-रूपी पुत्र दंड को ईश्वर ने प्रथम ही बनाया अर्थात् धर्म-रूपी दंड के उत्पन्न होने के पश्चात् ब्रह्मा ने इस पंचभूतात्मक सृष्टि को बनाया है—उसी दंड के भय से सम्पूर्ण जीव स्थावर

जंगम रूप से जो विद्यमान हैं भोग करने को समर्थ होते हैं और जो दंड न होता तो बलवान् पुरुष दुर्बल के धन दारा आदि के ले लेने में और उससे भी और बलवानों के ले लेने में इसी प्रकार और होते हुए किसी का भोग सिद्ध न होता और वृक्षादि स्थावरों के काटने में भी किसी के भोग की सिद्धि न होती; वैसे ही सज्जनों का भी नित्य नैमित्तिक अपने धर्म-व्यापारों का करना योग्य हुआ क्योंकि न करने में यम-यातना आदि दंडभय है—इससे दंड ही का राजा होना सिद्ध होता है और ऐसा ही मनुजी ने भी कहा है—

स राजा पुरुषो दण्डः स नेता शासिता च सः।
चतुर्णामाश्रमाणां च धर्मस्य प्रतिभूः स्मृतः॥
दण्डः शास्ति प्रजाः सर्वा दण्ड एवाभिरक्षति।
दण्डः सुप्तेषु जागर्ति दण्डं धर्मं विदुर्बुधाः॥

वही दंड वास्तव में राजा है वही पुरुष है और सब स्त्रियाँ हैं और वही नेता कहिए सब के कार्यों का

प्राप्त करने वाला और शासिता कहिए आज्ञा देनेवाला और वही चारों आश्रमों का जो धर्म है उसके प्रति-पादन करने में प्रतिभू (ज़मानत कहने वालों के समान) के समान मुनियों ने कहा है। दंड सब प्रजाओं का शासन करता है और दंड ही सब प्रजाओं की रक्षा करता है और सभों के सोने पर दंड ही जागता है अर्थात् उसके भय से चोर आदि नहीं आते हैं; और दंड ही को धर्म का कारण जानने से दंड ही को धर्म मानते हैं। यहां कारण में कार्य का उपचार है और इस लोक तथा परलोक के धर्म दंड ही के भय से किये जाते हैं। इससे शास्त्र की रीति भली भाँति विचार कर अपराध के अनुसार प्रजा के देह धन आदि में जो दंड दिया जाता है वह प्रजागण को प्रीति-युक्त करता है अन्यथा नहीं—अर्थात् निरपराध दंड न देवे और अपराधी को छोड़े नहीं जैसा कि मनुजी कहते हैं—

यदि न प्रणयेद्राजा दण्डं दण्ड्येष्वतन्द्रितः।
शूले मत्स्यानि वा भक्ष्यन्दुर्बलान्बलवत्तराः॥

यदि राजा आलस्य छोड़ कर सावधानी से अपराधी पुरुषों को दंड न देवै तो बड़े बड़े बलवान् छोटे २ दुर्बलों को इस प्रकार से मारैं खावैं कि जैसे मछली को शूल में छेद के भूँजते हैं और इसके व्यतिरिक्त बहुत बड़ी हानि होवै। यथा—

अद्यात्काकः पुरोडाशं श्वाच लिह्याद्धविस्तथा।
स्वाम्यं च न स्यात्कस्मिंश्चित्प्रवर्तेताधरोत्तरम्॥
सर्वो दण्डजितो लोको दुर्लभो हि शुचिर्नरः।
दण्डस्य हि भयात्सर्वं जगद्भोगाय कल्पते॥

विना दंड के कौआ जो सर्वथा हवि के अयोग्य है पुरोडाश जो यज्ञ-भाग है उसको खाजाय और कुत्ता खीर घी आदि हवि को चाट लेवै और किसी मनुष्य का कहीं अधिकार न होवै क्योंकि बलवान् उसको छीन लेवैं और ब्राह्मण आदि वर्णों में जो नीच शूद्र

आदि अयोग्य है वे मुख्य होजायं। दंडद्वारा नियम में स्थापित किया हुआ सब लोक सन्मार्ग में स्थित रहता है। स्वभाव से शुद्ध मनुष्य कठिनता से मिलता है तैसें ही यह सब जगत् दंड ही के भय से आवश्यक भोजन आदि के भोग में समर्थ होता है।

देवदानवगंधर्वा रक्षांसि पतगोरगाः।
तेपि भोगाय कल्पन्ते दण्डेनैव निपीडिताः॥
दुष्येयुः सर्ववर्णाश्च भिद्येरन्सर्वसेतवः।
सर्वलोकप्रकोपश्च भवेद्दण्डस्य विभ्रमात्॥

इन्द्र, अग्नि, सूर्य, वायु, आदि देवता तथा दानव गन्धर्व, राक्षस, पक्षी और सर्प आदि भी परमेश्वर के परमार्थ भय से पीड़ित हो बरसने आदि के उपकार के निमित्त प्रवृत्त होते हैं जैसा कि श्रुति का प्रमाण है—

भयादस्याग्निस्तपति भयात्तपति सूर्यः।
भयादिन्द्रश्च वायुश्च मृत्युर्धावति पञ्चमः।

दंड के न करने से अथवा अयुक्त रीति से करने से ब्राह्मण आदि वर्ण आपस में एक दूसरे की स्त्री में गमन करने से वर्णसंकर हो जाँय और शास्त्र के नियम जिसके अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष चार प्रकार के फल हैं मिट जायँ और चोरी तथा साहस आदि से औरों का अपकार करने से सब लोक में उपद्रव मच जाय।

यत्र श्यामो लोहिताक्षो दण्डश्चरति पापहा।
प्रजास्तत्र न मुह्यन्ति नेता चेत्साधु पश्यति ॥
तस्याहुः संप्रणेतारं राजानं सत्यवादिनम् ।
समीक्ष्य कारिणां प्राज्ञं धर्मकामार्थकोविदम् ॥

जिस देश में शास्त्र के प्रमाण से जाना हुआ श्याम-वर्ण लाल जिसके नेत्र ऐसा है देवता जिसका ऐसा दंड विचरता है वहाँ प्रजा विकल नहीं होती हैं। जो दंड देने वाला विषय के अनुरूप दंड को भली भाँति जानता होवे। सत्य बोलनेवाले और विचार के साथ करनेवाले

तथा तत्त्व अतत्त्व के विचार में उचित बुद्धि से शोभायमान और धर्म अर्थ काम के जाननेवाले अभि-षेक आदि गुणों करके युक्त राजा को मनु आदि धर्मशास्त्र दंड का प्रवर्तक अर्थात् चलानेवाला कहते हैं। यथा—

शुचिना सत्यसंधेन यथाशास्त्रानुसारिणा।
प्रणेतुं शक्यते दण्डः सुसहायेन धीमता॥
स्वराष्ट्रे न्यायवृत्तः स्याद् भृशदण्डश्च शत्रुषु।
सुहृत्सु जिह्मः स्निग्धेषु ब्राह्मणेषु क्षमान्वितः॥

द्रव्य आदि की शुद्धता से जो युक्त है और जिसकी प्रतिज्ञा सत्य है और जो शास्त्र के अनुसार व्यवहार को करता है और जिसके सहायक मंत्री आदि अच्छे लक्षण-युक्त हैं और जो तत्त्व को जानता है ऐसा राजा दण्ड कर सकता है। अपने देश में शास्त्र की रीति से व्यवहार करने वाला हो और शत्रुवर्गों में तेज दंड देनेवाला होवे और स्वभाव से स्नेह के स्थान

मित्रों में कुटिल न होय और थोड़ा अपराध करने पर भी ब्राह्मणों अर्थात् महानुभावों पर क्रोध न करके क्षमायुक्त होवै। इस प्रकार से नीति-मार्ग पर चलनेवाले राजा की कीर्ति संसार में ऐसी फैलती है जैसे पानी में तैल का बूंद छोड़ने से फैल जाता है। वैसे ही अर्थ धर्म काम की वृद्धि को प्राप्त होता है।

—:o:—

पाठ ४

राजव्यवहार

इस अवस्था में जब कि राजा का स्वरूप और उसके दंड की महिमा हमारे धर्म्मशास्त्रों में जो वर्ग-चतुष्टय अर्थात् अर्थ, धर्म, काम, मोक्ष साधन के मूल कारण हैं पूर्वोक्त रीति से विद्यमान हैं; तो मनुष्यों को अपने कल्याण की इच्छा से उसका सेवन अवश्य करना चाहिये क्योंकि ऐसा कौन दूसरा मनुष्य संसार में है जिसके आश्रय से अपना धर्म निवाहे। जैसा कि बृहत् पाराशर धर्म-शास्त्र में प्रमाण है कि—

योऽह्नाय सर्वं विदधाति पश्येत्
शृणोति जानाति चकास्ति शास्ति ।
कस्तस्य चाज्ञां न बिभर्त्ति राज्ञः,
समस्तदेवांशभवो हि यस्मात् ॥

जो राजा जब जिस वस्तु को करना चाहता है तुरन्त उसका विधान कर देता है और सम्पूर्ण पदार्थों को देखता सुनता जानता है और आज्ञा देता है व प्रकाश करता है और समस्त देवताओं के अंश से उत्पन्न हुआ है उसकी आज्ञा, कौन ऐसा मनुष्य है जो न धारण करै अर्थात् ऐसा कोई नहीं है। सबही धारण करते हैं। क्योंकि राजाज्ञा का न पालन करनेवाला किसी प्रकार कुशल क्षेम में नहीं रह सकता। जैसा कि बृहत्पाराशरे—

आज्ञा नृपाणां परमं हि तेजो—
यस्तां न मन्येत स शस्त्रवध्यः ।

ब्रूयाच्च कुर्य्याच्च वदेच्च भूभृत्
कार्यं तदैवं भुवि सर्वलोकैः ॥

राजाओं की आज्ञा परमतेज स्वरूप है सो इस आज्ञा को जो नहीं मानता वह शस्त्र-द्वारा वध करने के योग्य है इस कारण पृथ्वीपति राजा जो कुछ कहै करे व आज्ञा देवै वह सर्वथा संसार में सब लोगों को करना चाहिये क्योंकि आज्ञा-भंग का फल तो प्राणघात ही हमारे धर्म शास्त्रों में सनातन से चला आता है। इससे कभी किसी प्रकार से उसका अपमान करना ठीक नहीं है जैसा कि फिर उसी धर्मशास्त्र में है कि—

दुर्धर्षतिग्मांशुसमानदीप्ते—
ब्रूयान्मनुष्यः परुषं नृपस्य ।
यस्तस्य तेजोऽप्यवमन्यमानः
सद्यः स पञ्चत्वमुपैति पापात् ॥

बड़े दुर्धर्ष तीक्ष्ण किरण वाले सूर्य्य की समान दीप्ति जिस राजा की है उसके उस परम तेज को न

मानकर प्रसभता से जो उसको परुष वचन कहता है वह इस पाप से सद्य ही मृत्यु को प्राप्त हो जाता है जैसे मध्याह्न के समय जब उष्णांशु की ओर कोई अपनी मूर्खता से देखता है तो तुरंतही उस मनुष्य की आँखों में विघ्न आ जाता है। इसी से मनुजी ने भी कहा है। यथा—

यस्मादेषां सुरेन्द्राणां मात्राभ्यो निर्मितो नृपः।
तस्मादभिभवत्येष सर्वभूतानि तेजसा ॥
तपत्यादित्यवच्चैष चक्षूंषि च मनांसि च।
न चैनं भुवि शक्नोति कश्चिदप्यभिवीक्षितुम् ॥

जिससे कि इन्द्र आदि श्रेष्ठ देवताओं के अंश से राजा उत्पन्न किया गया है तिससे राजा सब प्राणियों से पराक्रम में अधिक होता है। यह राजा अपने तेज से सूर्य के समान देखने वालों की आँखों और मन को संतप्त कर देता है। पृथ्वी में इस राजा को कोई सामने से नहीं देख सकता है इससे सर्वथा

राज-नियमों का परिपालन सदा काल करते रहना चाहिये।

पाठ ५

राजव्यवहार

ऐसा नहीं कि जैसा पायोनियर आदि प्रामाणिक समाचार-पत्रों द्वारा प्रायः ज्ञात होता है कि आज एक राजविद्रोहियों का समुदाय कारागार को भेजा गया, आज किसी राजव्यवस्था के भंग करने के अभियोग में कुछ मनुष्य अभियुक्त हुए और आज उनमें से किसी को प्राणघात का दंड दिया गया, इत्यादि। यह शोक और पश्चात्ताप का स्थान है कि जिस हमारे भारतवर्ष में ऐसे सनातन धर्म की प्रणाली आदि से चली आती है जैसा कि ऊपर के पाठों से विदित है और अग्रिम पाठों से भी उदाहरण दिखलाये जावेंगे उस प्रदेश में अब ऐसे मनुष्य उत्पन्न हो कर इस पुण्यभूमि भारतखंड के विशद यश में

धब्बे लगा रहे हैं। यद्यपि अपनी अज्ञानता से राजक्रोधाग्नि में पतंगों की भांति जलते जाते हैं परन्तु आँख उठा कर नहीं देखते कि जिस गवर्नमेंट सम्राट् की कृपावलोकनि-नीति-छटाओं की छाया में हम लोग क्या २ सुख आनन्द नहीं भोगते हैं उसकी राज-आज्ञा न पालन करने में हम तो जाही चुके हैं, अपनी जन्मभूमि भारत जननी को भी कलंकित कर रहे हैं। क्योंकि दुष्ट पुत्रों के जनने से कब किस को यश मिल सकता है। हे भारतवासी भाइयो! क्या आप लोगों ने अपने पूर्वजों के वृत्तान्तों को विस्मरण कर दिया कि एक पद्मिनी को कलंक से बचाने के लिये कई लाख भारत-पुत्रों ने अपने प्राण बलि कर दिये और चित्तौर की शाक रक्खे तहां आप लोग उत्पन्न हो कर स्वयं अपनी भारत जननी को डंका देकर राजाज्ञा भंगद्वारा कलंकित कर रहे हैं, लज्जित हो कर अपने सनातन धर्म को ग्रहण नहीं करते। इस से क्या

गति होगी। किञ्चित् आगे को तो देखो कि स्वामी के कार्य न करने से क्या परिणाम होताहै। यथा स्कंदपुराणे काशीखंडे—

धिगस्मान्स्वामिना नित्यं कृतसंभावनान्मुहुः।
बहुमानेन दानेन सौहार्देन महीयसा।
कृतप्रसादांस्त्यक्तेशा धिङ्स्तत्कार्यवंचकान्।

जिस स्वामी की कृपा से मान, दान, सौहार्द आदि प्रसाद से संभावना होती रहती है उस के कार्य न करने से उस प्रजा को धिक्कार हैं। इस कारण जब कि हमारी गवर्नम्येट हमारी योग्यतानुसार हमारी लोगों की प्रतिष्ठा करती रहती है व अनेकों प्रकार की विद्या व चौरादि दुष्टों के उपद्रव से अभय, व बिना किसी आग्रह के धर्म में प्रवृत्तिदान देती हुई स्नेहपूर्वक हमारे सम्पूर्ण आनन्दों में विघ्न न पहुँचने के अर्थ उपायों के प्रयोग में उद्यत रहती है तो यदि हम लोग उस के कार्य को न करैं अर्थात् नियम के

विरुद्ध चलें तो हम को सब को धिक्कार है और अन्त में यमलोक निवास । यथा—

का गतिर्नो भवित्रीह स्वामिकृत्यप्रमादिनाम् ।
अन्धं तमोमये लोके ध्रुव वासं भविष्यति ।
अकृत स्वामि कार्याणामहो जीवितधारिणाम् ।
अक्षतेन्द्रियवृत्तीनां दुर्गतिश्च पदे पदे ॥

स्वामी के कार्य में प्रमाद करनेवालों की कुत्सित गति होती है अर्थात् जो सावधानी से स्वामी की आज्ञा पालन नहीं करता उस को अंत समय अन्धतामिश्र नाम नरक में वास करना पड़ता है और जब तक जीवित रहता है और उस की इन्द्रियां अपने २ व्यापार में लगी रहती हैं तब तक उस को पद पद पर दुर्गति ही भोगनी पड़ती है और पृथिवी भी उस के भार से दबी जाती है । जैसा स्कंदपुराण काशीखंड में कहा है । यथा—

अनिष्पादितकार्यार्थी ये मुखं प्रेक्षयंत्यहो ।
अपत्रपा पुरोभर्तुस्तैर्भूर्भारवतीत्वियम् ॥
नादीणां न समुद्राणां न द्रुमाणां महीयसाम् ।
भूतधात्र्यास्तथा भारो यथा स्वामिद्रुहां महान् ॥

जो पुरुष अपने स्वामी का कार्य न करके निर्लज्जता से फिर अपने प्रभु के निकट आकर मुख दिखलाता है उस के पाप से पृथ्वी भारवती हो जाती है। क्योंकि पृथ्वी के ऊपर जितने पर्वत हैं और समुद्र व वृक्षादिक प्राणिगण, इन सबों का भार उतना नहीं होता जितना कि एक स्वामी से द्रोह करनेवाले मनुष्यों का होता है। इस से हे भारत भूमि! तू ऐसे पुत्रों को जिस से कि मुख्य कर तुम्हीं को भार होता है अपने ऊपर कलंक लगाने व पूर्वार्जित यशों को मिटाने के निमित्त क्यों प्रकट करती है। क्या उन दुराचारियों का समाचार आप को विस्मृत हो गया जो हिरण्याक्ष, रावण, शिशुपाल,

कंस, जरासन्ध इत्यादिकों से तुम को भोगना पड़ा है अर्थात् अधर्म के प्रचार से व्याकुल होकर जगत-कर्ता विश्वेश्वर की शरण में जाकर न्यायाकांक्षिणी होना पड़ा है। इस कारण यही उत्तम ज्ञात होता है कि ऐसे प्राणियों को जन्मतेही अपने में लीन कर ले या उन का गर्भपातही हो जावै नहीं तो फिर अन्त में तुम को पश्चात्ताप करना पड़ेगा। क्योंकि यथा—

जातमात्रं न यः शत्रुं व्याधिञ्च प्रशमन्नयेत् ।
अतिपुष्टाङ्गयुक्तोपि स पश्चात्तेन हन्यते ॥

जो कोई अपने शत्रु और व्याधि को उत्पन्न होते ही नाश नहीं करदेता तो पीछे से उनके पुष्टाङ्ग होने व जीत जाने पर वह मनुष्य स्वयं पश्चात्ताप करता है और मारा जाता है। तुझको तो ईश्वर की कृपा से ऐसा धर्म-प्रचारक न्याय-प्रवर्तक भारतेश्वर सम्राट् स्वामी पाकर कि जिसके प्रसाद से सम्पूर्ण मनुष्यों को अपने २ धर्मों के स्वच्छन्दता से सेवन करने का सुअवसर

प्राप्त है, परम प्रसन्नता के साथ धर्म-प्रवर्तन में परायण अपनी शुभ संतति सहित सब प्रकार की सामर्थ्य प्राप्त है और सब कुछ कर सकती हो।

—:o:—

पाठ ६

राजव्यवहार

अब हम फिर अपने उन भारतवासी भाइयों से सविनय प्रार्थना करते हैं कि जिनको किसी प्रकार से राजव्यवहार अर्थात् राजनियमों के पालन करने में कुछ आग्रह होता है और वह विचार करने से लग-भग चार प्रकार का हो सकता है जिसके समाधान भी सनातन धर्मशास्त्रों में विद्यमान हैं जिन से **प्रथम** यह कि राजा के अन्याय के कारण से आज्ञा न मानना, **दूसरे** यह कि पराधीनता के कारण अपने जन्म-भूमि की उन्नति न होती हो जो मनुष्यों को अवश्यकर्तव्य है इस हेतु से। **तीसरे** किसी प्रकार की सामर्थ्य अपने

में प्राप्त होने पर अहंकार से आज्ञा भंग करना, चौथे अन्य किसी स्फुटिक कारणों से। सो तो यह तमरूप आग्रह हमारे सनातनधर्मावलम्बियों को कभी किसी प्रकार से होही नहीं सकता क्योकि जहां पूर्व कथित सूर्यरूप प्रमाण विद्यमान हैं। हां किसी समय बुद्धि की विपरीतता से संभव भी होता है कि ऐसा भी होजावै। जैसा कि आज कल प्रायः सुनने में आता है क्योंकि श्रीमदध्यात्मरामायण में उसका प्रमाण मिलता है। यथा—

न भूतपूर्वं न कदापि दृष्टः,
न श्रूयते हेममयी कुरङ्गः।
तथापि तृष्णा रघुनन्दनस्य,
विनाशकाले विपरीतबुद्धिः॥

सोने का मृग न तो प्रथम कभी उत्पन्न हुआ, न किसी ने देखा और न सुना था। तथापि लीला-विग्रहधारी रामचन्द्र ने विनाश-काल की बुद्धि का स्वरूप सूचित करने के निमित्त उस स्वर्णरूपी कपट-

मृग की तृष्णा प्रकट की। इसी प्रकार हमारे श्रौत-स्मार्त सदाचार धर्मों में सदा काल से राजाज्ञा पालन ही धर्म चला आता है। किसी ने कभी ऐसा नहीं देखा, न सुना कि हमारे सनातन धर्म की पुस्तकों में राजाज्ञा का उल्लंघन कहीं कहा गया हो। परन्तु विनाश-काल आने पर मोह से राजाज्ञा भंग ही कपट मृगरूपी स्वर्ण चमकने लगता है जिसका कि परिणाम सीता-स्वरूप सर्वस्व हरण है। इस कारण हे भारतवर्षीय बन्धुगणो! अपने सनातन धर्म पर आरूढ़ रह कर अपने पूर्वजों की चाल पर चलना ही आप लोगों को परमोचित है जिससे तुम्हारे पूर्वजों का यश जो देश-देशान्तर में विख्यात हो रहा है लुप्त न होवै और तुम्हारा भी संसार में कल्याण होवै, व यश, संतति, सुख, संपत्ति आदि के साथ जीवन व्यतीत हो परलोक सुधरै। क्योंकि अपना ही सनातन धर्म चाहै तुम उसको गुण-हीन ही समझते रहो परन्तु और दूसरे धर्मों से जिस

को कि उत्तम विचारते हो कल्याणदायक है। जैसा कि गीता में श्रीकृष्ण भगवान् ने कहा है कि—

श्रेयान् स्वधर्मो विगुणः परधर्मात्स्वनुष्ठितात्।
स्वधर्मे निधनं श्रेयः परधर्मो भयावहः ॥

अपने वर्णाश्रम का जो श्रौतस्मार्त सदाचारानुकूल धर्म है वह अत्युत्तम नहीं भी है तब भी पराये धर्मों स जिसको कि यथार्थ रीति से अनुष्ठान कर चुके हों उत्तम ही जानना चाहिये। क्योंकि अपने सनातन धर्म में मरना श्रेष्ठ है। और दूसरों के धर्म में सर्वथा भय ही भय है। इससे मनुष्य गणों को अपना सदाकाल का निष्कंटक पंथ स्वीकार किये रहना चाहिये। प्रथम औरों के विषय में यह देखना आवश्यक है कि सनातन-धर्म के व्यतिरिक्त दूसरे और सब धर्म कब से चले और कब तक रहैंगे। कारण यह कि ये सब आधुनिक हैं और सनातन-धर्म सदाकाल का। क्योंकि भारत शान्तिपर्व में प्रमाण है कि—

**एष निष्कण्टकः पंथा यत्र संपूज्यते हरिः ।
कुपथं तद्विजानीयात् गोविन्दरहितागमम् ॥**

यही सनातन-धर्म जहां हरि भगवान् सम्यक् प्रकार से पूजे जाते हैं अर्थात् उनकी आज्ञा रूप श्रुति स्मृतियाँ मानी जाती हैं वही शुद्ध मार्ग निष्कंटक चलने के लिये विद्यमान है। और श्रौतस्मार्त मार्ग से रहित धर्म कुपंथ अर्थात् कुत्सित मार्ग है। इससे हे मोह-ग्रस्त भाइयो! अपने शुभ धर्म की प्रणाली ग्रहण कर राजाज्ञापालन शिरों से धारण करो क्योंकि तुम्हारे मोहावस्था की दुराग्रह इच्छाएं भी सनातनधर्मावलम्बी हमारे पूर्वजों के आचरित रूप समाधानों से निरस्त हो जाती हैं और अन्त में फिर इसी श्रौत-स्मार्त सदाचार का आश्रय लेना पड़ता है। जैसा कि कथ्यमान कथाओं से प्रकट होता है-**प्रथम आग्रह**—जो तुम्हारी इच्छा यह है कि राजा के अन्याय के कारण से हम लोग आज्ञा का पालन नहीं कर सकते क्योंकि इसमें अधिक

क्लेश सहना पड़ता है। सो प्रथम तो भाइयो! तुम को यह विचार करना चाहिये कि कोई प्राणी संसार में ऐसा न होगा जो अपने प्रजा के दु:ख को सह सके क्योंकि प्रजा पुत्र के समान होती है, उसके हित करने में अपनी शक्ति अनुसार पिता के तुल्य राजा प्रवृत्त ही रहता है और उसका हार्दिक अभिप्राय अपने प्रजा के उन्नति ही में सदाकाल रहता है इससे निश्चय करके जानना चाहिये कि स्वामी अपनी प्रजा को कदापि पीड़ित नहीं करेगा। यदि आप ही लोगों के विचार के अनुसार थोड़ी देर के लिये मान लें कि निरपराध तुम लोगों को दंड मिलता है तो इसमें भी सब प्रकार से तुम्हारी भलाई ही है क्योंकि सुजन पुरुषों की व्यवस्था सोने की सी होती है। यथा--

तापनात्ताडनाच्चैव छेदनाद् घर्षणादपि।
यथा स्वर्णो लभेच्छुद्धिं सज्जनोपि तथैव च॥

जैसे कोई पुरुष कहीं से सोना लाया तो उसको इस

बात के जानने के निमित्त कि यह शुद्ध सोना है या इसमें कुछ अन्य पदार्थ मिश्रित है सोनार के यहां परीक्षा करने के अर्थ ले जाता है। तब उस सोने को सोनार अग्नि में तपा कर और पीटपाट कर व काटकूट कर या यंत्र में खींच कर उसको शुद्ध करता है अर्थात् इन चारों संस्कारों से जब उस सोने में किसी प्रकार का कल्मष नहीं निकलता तब उसको शुद्ध मानकर और सामान्य सोनों से उसको अधिक मूल्य का स्थापित करता है। इसी प्रकार सत्पुरुषों की भी परीक्षा की जाती है अर्थात् तापनरूप क्षुधा, तृषा आदि की पीड़ा से पीड़ित करना व ताड़नरूप मारपीट करना वा भर्त्सनायें दिखलाना व छेदनरूप कोई अंग काट लेना वा अंग सदृश स्त्री-पुत्र धन आदिकों का वियोग कर देना व घर्षणरूप कठिन कठिन कामों में रगड़ना इत्यादि प्रकारों से जब सब कष्टों को स्वीकार करके मनुष्य अपने चित्त में किसी प्रकार का विकार नहीं प्रकट करता

तो उसी सोने की भाँति शुद्ध माना जाता है और मानप्रतिष्ठा पाने व अधिक मूल्य होने के योग्य होता है। इससे हे भाइयो ! यदि आप निरपराध दुःख सहते हैं तो अन्त समय तक यदि आपकी पूर्ण स्वामिभक्ति बनी रही और चित्त में कुछ संकल्प-विकल्प रूप विकार न उत्पन्न हुआ तो उसी सोने की भाँति शुद्ध बन जावोगे और मानप्रतिष्ठा आदि का सुख भोगोगे और यदि तुम में किसी प्रकार का विकार प्राप्त हुआ तो कृत्रिम (नक़ली) सोने की भाँति तुम्हारा छद्म (क़लई) कपट खुल जायगा और अपने वर्ग में किसी काम के न रहोगे। इससे तुम लोगों को महज्जनों की चाल पर चलना व प्रत्येक अवस्था में स्वाम्याज्ञा पालन करना चाहिये क्योंकि जिस मार्ग पर श्रेष्ठ जन चलते हैं वह शुभ मार्ग है। यथा महाभारते—

वेदाः प्रमाणं स्मृतयः प्रमाणं,
नैको मुनिर्यस्य वचः प्रमाणम्।

धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां,
महाजनो येन गतः स पन्थाः ॥

जिसमें श्रुति-स्मृति और अनेक मुनियों के वचन प्रमाण हैं ऐसे गुहानिहित धर्म के तत्त्व को जिस मार्ग से हमारे पूर्वज श्रेष्ठ-जन प्राप्त हुए हैं वही मार्ग है और उसी पर चलना चाहिए। सो विदित हो कि द्वापर युग में भारत वर्ष का एक राजा दुर्योधन हुआ है जो कपट-द्यूत व्यवहार से अपने पितृव्य पुत्र युधिष्ठिर को पराजित करके उनका सर्वस्व ले लिया और उसके पूर्व ही लाक्षाभवन में पाण्डवों को उनकी माता-सहित भस्म कर देने का उद्योग किया था जो ईश्वर की कृपा से रक्षित रहे और महान् अधर्म दुर्योधन का यह विख्यात है कि पाण्डव की धर्म-पत्नी द्रौपदी को सभा के मध्य में वस्त्रहीन कर देने का वास्तविक प्रयत्न किया था परन्तु ईश्वर ने उसके धर्म की रक्षा की और दुर्योधन का उद्योग निष्फल गया। इत्यादिक बड़े बड़े

अत्याचार राजा दुर्योधन के प्रसिद्ध हैं। इस अवस्था पर भी हमारे पूर्वजों में इतनी स्वामिभक्ति की दृढ़ता स्थित रही कि अठारह अक्षौहिणी दल कौरव पाण्डवों के युद्ध में जो कुरुक्षेत्र में हुआ था, अपने स्वामी ही के अर्थ समाप्त हो गया। अक्षौहिणी संख्या का प्रमाण यह है—

अयुतं च नागास्त्रिगुणौरथानां,
लक्षैकयोधा दशलक्षवाजिनाम्।
पदाति संख्या षट्त्रिंशकोटयः,
अक्षौहिणीं तां मुनयो वदन्ति॥

दश सहस्र हाथी और तीस सहस्र रथ व एक लाख योधा व दश लाख अश्वारूढ़ (सवार), छत्तीस करोड़ पैदल इतनी संख्या को एक अक्षौहिणी कहते हैं—जिसमें बड़े बड़े महाशय महानुभाव पराक्रमी विद्यमान थे जैसे भीष्मपितामह, द्रोणाचार्य्य, अश्वत्थामा, कर्ण इत्यादि जो एक एक राजा दुर्योधन को पराजित कर

सकते थे। क्योंकि इन महाशयों का बल पराक्रम जग-विदित है। सो केवल स्वामिभक्ति के कारण राजा दुर्योधन को परित्याग न करके आज्ञा पालन करते रहे। यद्यपि ये सब महाशय लोग उसकी अनीतियों से अनभिज्ञ न थे। और समय २ पर सुसम्मति भी देते आते थे परन्तु सर्वथा अपने सनातनधर्म के पदबद्ध होने से राजाज्ञा का परिपालन ही करते रहे तो जब हमारे पूर्वज भारत-पुत्र ऐसे समर्थ होकर कि जिनमें भीष्म पितामह ने जिनका ब्रह्मचर्य्य व्रत आजन्म जगत प्रसिद्ध है और सम्पूर्ण द्विजातिगण आज तक उनको तर्पण करते आते हैं और युद्ध में जिनके पराक्रम से साक्षान्नारायणांश सहस्राजुर्न के संहार-कर्ता भगवान् परशुराम जी तोषित हो गये और नरनारायण के अवतार श्रीकृष्ण भगवान् व अर्जुन ने अपने पराक्रम को तुच्छ समझा और जिनके कथन किये हुये नाना प्रकार के धर्म सांख्य-योग-सहित

बड़े २ विद्वानों को अर्थांश में मोहित कर देते हैं। विचित्रता यह कि ये सब धर्म ऐसी अवस्था में कहे गये हैं कि जब महाभारत के पश्चात् छः मास तक शरशय्या पर थे अर्थात् सम्पूर्ण शरीर भीष्म पितामह का शर-विद्ध था। दक्षिणायन के कारण शरीर-त्याग नहीं किया था इत्यादि। इसी प्रकार और २ शक्तिमान् पुरुष प्रत्यक्ष अन्यायवर्ती राजा दुर्योधन के आश्रित रहकर अपना प्रजा का धर्म पालन करते रहे तो अब विचार की बात है कि हमारे भारतेश्वर सम्राट् के राज्य में इन अनीतियों की तो चर्चा तक नहीं। यदि कोई कहीं राज-व्यवस्था के विपरीत अपनी अज्ञानता से मोहित होकर प्रसन्नता से परदार-गमन, द्यूत व्यसन अनलदाहादि की चेष्टा करता है वह रसातल को भेज दिया जाता है और मुख्य कर इन्हीं सब अनीतियों से रक्षित रहने व चौरादि बाधा से प्रजाओं को बचाने के निमित्त पुलिस नियत है और नाना प्रकार के

लौकिक पारलौकिक कार्यों को जिनके प्रसाद हम सुगमता से परिणाम दे रहे हैं जैसे दूर देश की तीर्थादि-यात्रा। जहाँ जाने में चोर ठगहार बीच ही में मार लेते थे और किसी को कुछ समाचार तक न मिलता था। यदि ईश्वर की कृपा से बच भी गये तो रेंगते २ दुर्गम देशों में मरणप्राय दुःख भोगते थे। अब जिस प्रभू के प्रसाद से वह सब कठिनतायें रेलवे तारादि द्वारा दूर हो गईं व सब मनुष्य स्वच्छन्दता से अपने २ वर्णाश्रमों के धर्मों पर चल रहे हैं, किसी को किसी प्रकार का भय नहीं है। ऐसी अवस्था में इन सब उपकारों को मानते हुये अन्तःकरण से अपनी गवर्नमेंट का धन्यवाद देना व उसकी आज्ञाओं का पालन करना सर्वथा योग्य है, नहीं तो राजाज्ञाभंग दोष के व्यतिरिक्त कृतघ्नता का भी टीका शिर पर शोभित होवैगा। जिसका फल यह है—

मित्रद्रोही कृतघ्नश्च ये च विश्वासघातकाः।
ते नरा नरकं यान्ति यावच्चन्द्रदिवाकरौ॥

अपने मित्रों से द्रोह करनेवाले व दूसरों के उपकार को न माननेवाले और विश्वासघात करनेवाले पुरुष नरक में जाते हैं और कल्प पर्य्यन्त वहां वास करते हैं जिसकी संख्या सूर्यसिद्धान्त में चार अरब बत्तीस करोड़ ४३२००००००० वर्ष की रक्खी गई है। इससे हे प्रिय बन्धुगणो! अपने सनातनधर्म का आश्रय लेकर स्वामिभक्ति में इस क्षणभंगुर शरीर को लगा कर सदा काल के निमित्त यशभागी बनो और अपने भारतवर्ष को धर्म-पालन द्वारा फिर उन्नति देवो।

—:o:—

पाठ ७

राज-व्यवहार

इस पाठ में दूसरे आग्रह के समाधान कहे जाते हैं—जो तुम जानते हो कि पराधीनता के कारण अपनी जन्म-भूमि की उन्नति नहीं होती इसी से राज-नियमों को हम वास्तविक नहीं मानते। सो तो है

भाइयो! आप लोगों को प्रथम विचार करना चाहिए कि राजदंड को ईश्वर ने प्रजा की सृष्टि के प्रथम ही उत्पन्न किया है जिस का प्रमाण पा चुके हो तो जब ईश्वर ने राजदण्ड के अधीन सारी प्रजा को उत्पन्न ही किया है–तो आप का आग्रह ही अब कैसा ? यदि ईश्वर-कृति को न मानो तब भी अपने पूर्वजों को स्मरण करो कि जिस प्रकार सब लोग राज-नियम मानते आये हैं वैसे ही हम सब को भी मानना चाहिए क्योंकि जिस रीति से उन के दाय के भागी बने हैं उसी रीति से उन के धर्मों का भी दाय-भाग पहुँचता है। इसी से परम्परा से चला आने के कारण सनातन धर्म कहलाता है। और इस को भी न मानो तो मनुष्य मात्र का यह स्वाभाविक धर्म है कि अपने कार्य अकार्य को प्रथम विचार करके पश्चात् उस के प्रयत्न में उद्यत होना उचित है। यथा—

नीतिशतके—

गुणवदगुणवद्वा कुर्वता कार्यमादौ,
परिणति रवधार्य्या यत्नतः पण्डितेन ।
अतिरभसकृतानां कर्मणामाविपत्ते-
र्भवति हृदयदाही शल्यतुल्यो विपाकः ॥

कोई कार्य योग्य हो अथवा अयोग्य परन्तु करने वाले पण्डित को पहिले से उसका परिणाम विचार लेना चाहिये क्योंकि विना बिचारे अति शीघ्रता से किये हुये काम का फल मरण पर्य्यन्त हृदय को दाहता है और कंटक के बराबर खटकता रहता है। और सम्पूर्ण कार्य्यों की सिद्धि तो भावी ही वश होती है; इस से हठ न करना चाहिए। जैसा कि प्रमाण है-

नीतिशतके-

मज्जत्वम्भसि यातु मेरुशिखरं,
शत्रूञ्जयत्वाहवे ।
वाणिज्यं कृषिसेवनादि सकला,
विद्याः कलाः शिक्षतु ॥

आकाशं विपुलं प्रयातु खगवत्,
कृत्वा प्रयत्नं परम् ।
नाभाव्यं भवतीह कर्मवशतो-
भाव्यस्य नाशः कुतः ॥

चाहे समुद्र में डूबो, चाहे सुमेरु पर्वत के शिखर पर चढ़ जाओ, चाहे घोर संग्राम में शत्रुवों को जीतो, चाहे बनिज, खेती, सेवा आदि के विद्याओं की नाना कला करो और आकाश में पक्षी की भांति बड़े प्रयत्न से उड़ा करो पर अनहोनी कदापि नहीं होती। और, जो कर्मवश होती है वह नहीं टलती—इस से वृथा हठ करना व बिना विचार सदाचार-विरुद्ध चलना मनुष्यों का धर्म नहीं है। होनी तौ अवश्य होती ही है। यथा—

बृहत्पाराशरधर्मशास्त्रे—

दैवान्मघोनोपि सहस्रहत्त्वं,
दैवाद्धिमांशोः क्षयगामिताभूत् ।

दैवात्पयोधेर्लवणोदकत्वं,
दैवाद्भवेच्चित्रतरा च वृष्टिः ॥

दैवयोग से भावी वश इन्द्र के सहस्र नेत्र हो गये और दैवयोग से चन्द्रमा की कला घटती बढ़ती रहती है व दैवयोग ही से समुद्र का पानी खारा हो गया है और दैव ही कारण खंड-वृष्टि होने का भी है। सो इस का आशय यह नहीं है कि मनुष्य उद्योग छोड़ कर दैव के आधार चुपचाप बैठा रहै किन्तु यह है कि फल अपने पूर्वार्जित कर्मों के ही अनुसार होता है इस से कर्मफल की इच्छा से असक्त मन होकर अपने सनातन धर्मानुकूल उद्योगों को करता रहै। यथा—

स्कान्दे—

उद्यमः प्राणिभिः कार्यो यावद्बुद्धिबलाबलम्।
परं फलन्ति कर्माणि त्वदधीनानि शंकर ॥

मनुष्यों को अपने बल बुद्धि भर उद्योग करना उचित है परन्तु उस कर्म का फल ईश्वर के आधीन है क्योंकि सम्पूर्ण क्रियाओं का भोक्ता और फलदाता वही है। इससे विचारपूर्वक सदाचार-निष्ठ मनुष्यों को सदाकाल राजनियमों को पालन करते हुये अपने देश-ज्ञाति की उन्नति में उद्योग करना तो सनातन धर्म का मूल ही है। इस विषय पर एक प्राचीन इतिहास दिखलाया जाता है जिससे यथार्थ विदित हो जायगा कि स्वदेश-भक्ति किस प्रकार राजभक्ति के साथ करना चाहिये। वह यह है कि काशीराज के राज्य में एक व्याधा रहता था जिसको नित्य आखेट का व्यसन था। वह दिन भर प्रायः मृगादिकों ही की गवेषणा में लगा रहता था। एक दिन वह व्याधा विष-संस्कृत बाणों को लेकर मृगया के निमित्त पुर से निकल कर किसी वन में गया। वहां उसको एक झुंड मृगों का दिखलाई दिया जिस को देखकर बड़ी प्रसन्नता से हरिणों पर

उस विष से बुझे बाण को छोड़ा परन्तु अति शीघ्रता से चलाने के कारण लक्ष्य च्युत हो गया अर्थात् मृगों के बाण न लगा, वे सब भाग गये और वह विष-संदग्ध बाण एक वृक्ष में जाकर प्रविष्ट हो गया जिससे उस विष के प्रभाव से उसकी पत्तियाँ तथा फूल फल शुष्क हो होकर भूमि पर गिर पड़े और वह वृक्ष भी शुष्क हो गया जिसके कोटर में एक कीर रहा करता था जो उसी कोटर में के दिये हुये अंडे से उत्पन्न हुआ था। इससे उसको अपना जन्म स्थान जान कर अधिक प्रेम रखता था और उस वृक्ष के सूख जाने पर भी उसका त्याग स्वीकार न करता था। यद्यपि पूर्वापेक्षा उसको दुःख ही भोगना पड़ता था। इस पर एक दिन एक ब्राह्मण ने जो पक्षियों की भाषा जानता था उस सुग्गे से आकर कहा कि अब यह पेड़ पक्षियों के वास योग्य नहीं रह गया है क्योंकि न तो इसमें अब फल-फूल हैं और न पत्तियाँ। इस वन में और सुन्दर

वृक्ष हैं जो फल-फूल पत्तियों से लदे हैं उनमें से किसी एक में जाकर रहो और इसको छोड़दो। तब सुग्गे ने कहा हे देवता! मैं यहीं उत्पन्न हुआ और मेरा पालनपोषण भी यहीं हुआ और यहीं सब अच्छी २ बातें सीखी हैं अब इसके छोड़ने के अर्थ आप क्यों उपदेश देते हैं। जब इसमें हरे २ पत्ते व मधुर स्वादिष्ठ फल थे तब तो इसी में मेरा जीवन-निर्वाह हुआ, अब मैं इसको कैसे त्याग करूँ। तब उस ब्राह्मण के रूप में जो साक्षात् इन्द्रदेव थे उस कीर की स्वदेश-भक्ति के साथ फल फूल रूप वृत्तिदायक वृक्ष की भक्तिनिष्ठता देख कर प्रसन्न हो गये और प्रकट हो कर सुग्गे से कहा कि तू जो चाहै बर मांग ले, मैं तुझको देता हूँ। तब सुग्गे ने प्रार्थना की कि हे इन्द्र देव! यदि आप प्रसन्न हैं तो इस वृक्ष को फिर वैसा ही ज्यों का त्यों कर दीजिये। इन्द्र ने कहा ऐसा ही होगा। इतने में तुरन्त वह वृक्ष पत्तों व फलों से लद गया। इससे हे

प्रियबन्धुगणो ! जैसे सुग्गे के निमित्त वह वृक्ष-था वैसेही हमारे सबके निमित्त यह भारतवर्ष है। सो यदि आप लोग सत्य स्नेह से अपने देश की भक्ति में रहकर जिसमें कि तुमने जन्म लिया और सब पदार्थ सीखा है अपने वृत्तिदायक स्वामी का आश्रय त्याग नहीं करोगे तो अवश्य आशा होती है कि इस तुम्हारे सत्यस्नेह से. फिर तुम्हारा सूखा वृक्षरूप भारत-वर्ष पहिले की भांति हरा भरा व प्रफुल्लित हो जावैगा। इस हेतु सबसे उत्तम उपाय प्राचीन भारत को ज्यों का त्यों कर देने का यही है कि अपने श्रौतस्मार्त सदाचार धर्म पर टिक कर सत्य-स्नेह से अपने भारतेश्वर सम्राट् के राज-नियमों को मानता रहे। अन्य लोगों की भलाई का उद्योग करते हुये शान्त-चित्त सर्वप्रिय सभ्य बनने की चेष्टा करने में परायण रहे और यही आचरण ईश्वर के भक्त बनने का भी हैं। जैसे गीता में—

यस्मान्नोद्विजते लोको लोकान्नोद्विजते च यः ।
हर्षामर्षभयोद्वेगैर्मुक्तो यः स च मे प्रियः ॥

श्रीकृष्ण भगवान् अर्जुन से कहते हैं कि जिस पुरुष से संसार में कोई जीवमात्र किसी प्रकार का दुःख न पावै और न वह किसी प्राणिमात्र से उद्वेग पावै अर्थात् जिसके उद्देश से सर्वजन उसको दुःख-कारक कर्म न करैं और जो हर्ष, ईर्ष्या, भय, उद्वेग से विमुक्त होवै वह मेरा भक्त है और मुझ को प्रिय है। सो इस ईश्वर के वाक्य से भी जब वही बात सिद्ध होती है तो हे प्रिय भाइयो! राजनियमों के न पालन करने से अपना यह लोक और परलोक क्यों खोते हो। अपनी मनुष्यता का स्मरण कर शान्त-चित्त सर्वजन-प्रिय बन के दोनों लोक सुधारना चाहिये।

—:०:—

पाठ ८

राज-व्यवहार

तीसरे दुराग्रह का समाधान जो आप लोगों को

सामर्थ्य प्राप्त होने पर राज्यनियमों के न पालन करने पर है एक तो वही है कि प्रजा सर्वथा राजदंड के अधीन उत्पन्न की गई है। और, अन्य समाधान यह है कि तुम्हारे वर्णाश्रम धर्म का रक्षक एक वही धरानाथ मान्यवर भारतेश्वर सम्राट् है जिस धर्म के प्रभाव से तुम को सामर्थ्य प्राप्त है तो विचार करने की बात है कि तुम्हारी सामर्थ्य-प्राप्ति में राजा ही कारण है तो जिससे किसी प्रकार की बड़ाई होवै उसको न मानना नीचों का काम है क्योंकि वह कृतघ्न कहलाता है और तुलसीकृत रामायण में प्रमाण है—

जासो नीच बड़ाई पावा।
हठ करि चाहत ताहि नशावा॥

इससे तुच्छता और कृतघ्नता से बचने के निमित्त हे भारतवासी जनो! आपको उद्योग करना चाहिये अर्थात् सम्यक् प्रकार से राजाज्ञा का परि-

पालन ही करना उचित है । अब यहां पर शक्तिमान् प्रजाओं का प्राचीन इतिहास इस बात के सिद्ध करने के निमित्त दृष्टान्त दिया जाता है कि सर्वथा राजा सर्वोपरि व सर्वमान्य है चाहे प्रजा कैसी ही बढ़ जावै परन्तु राजनियमों में कुछ छेड़ छाड़ नहीं कर सकती; सदा काल राज्य-व्यवस्था का पालन ही किया करती है । हैहय वंश में एक विख्यात राजा सहस्रार्जुन हुआ है जो महिष्मती पुरी में शासन करता था। एक दिन वह मृगया के निमित्त घूमते २ जमदग्नि ऋषि के आश्रम पर जो वन में था पहुँचा । उसको देख कर ऋषि जी नरदेव के निमित्त व उनके सैन्य अमात्य आदि के हेतु सम्पूर्ण आतिथ्य सत्कार की सामग्री इकट्ठा करदी इस प्रभाव को देख राजा चकित होगये और यमदग्नि ऋषि की उस हविष्मती गौ को कि जिसके प्रसाद से उन्होंने राजा का ऐसा सत्कार करना चाहा था दर्प से ले लेने की आज्ञा देदी और मुनि के सत्कार का आदर न

किया। उस सवत्सा गौ को लेकर अपनी राजधानी को चले गये। इतने में ऋषि-पुत्र परशुरामजी जो विष्णु भगवान् के एक अवतार हैं अपने आश्रम पर आये और गोहरण का समाचार पाकर महान् क्रोधित हो गये। निदान राजा से बड़ा भारी युद्ध करके विजय पाया और अपनी वत्स सहित गौ लाकर अपने पिता जगदग्नि को दिया और सब समाचार बतलाया कि राजा सहस्त्रार्जुन को मार कर विजय प्राप्त कर लाये। इस बात के सुनने पर महात्मा यमदग्नि को बड़ा क्लेश हुआ और कहा—

राम राम महाबाहो भवान्पापमकारषीत्।
अवधीन्नरदेवं यत्सर्वदेवमयं वृथा॥
राज्ञो मूर्धा इव सिक्तस्य वधो ब्रह्मवधाद्गुरुः।
तीर्थसंसेवया चांहो जह्यङ्गाच्युतचेतनः॥

हे राम हे परशुराम हे महाबाहो! आपने यह धर्म-विरुद्ध कार्य्य किया है अर्थात् पाप-कर्म किया जो

साक्षात् देवमय मनुष्य शरीर राजा का वध वृथा ही किया क्योंकि अभिषेकयुक्त राजा का वध ब्राह्मणवध से भी अधिक होता है इससे इस अधर्म का प्रायश्चित्त यह है कि अच्युत भगवान् को हृदय में धारण कर तीर्थ-सेवन करो। हे पुत्र! इसके करने से उस विरुद्धाचरण के पाप से निर्मुक्त हो जावोगे, नहीं तो संसार में न तो यश होगा और न परलोक में निर्वाह। इस पिता के श्रुतिसम्मित वाक्यों को श्रवण कर भगवान् परशुरामजी सनातन धर्म की मर्य्यादा रखने के निमित्त उसी के अनुसार तीर्थ-सेवनरूप प्रायश्चित्त करके फिर अपने आश्रम को आये। इससे हे भाइयो! किञ्चित् बुद्धि के आश्रय होकर मन में विचार तो करो कि जब साक्षात् भगवान् भृगुकुलनन्दन राजविद्रोह के कारण अपराध भागी होकर प्रायश्चित्त करने से शुद्ध हुए यद्यपि परशुरामजी के पिता जमदग्नि ऋषि के साथ हैहयवंशी राजा सहस्रार्जुन का गोहरण-रूप अत्याचार

करना उस महानुभाव महात्मा के हृदय में क्रोध और राजविद्रोह उत्पन्न होने का बीज-रूप कारण विद्यमान था तथापि श्रौतस्मार्त धर्मानुसार राजा का अपमान करना प्रत्येक अवस्था में सर्वथा प्रजागणों को अनुचित जान अपने सनातन धर्म का पालन ही प्रसिद्ध किया। इससे हे भाइयो! सामर्थ्य-प्राप्ति होने पर भी पूर्वाचरितों को स्मरण कर अपने धर्म की रक्षा करो अर्थात् राज्य-व्यवस्था को भलीभाँति सेवन करो और दोनों लोकों में सुयश सहित सुख-आनन्द भोगो। इसी प्रकार और बहुत से इतिहास राज्याज्ञा-पालन-प्रतिपादक पुराणों में विद्यमान हैं जिनमें से एक यह है—सोम-वंश कुल में एक राजा परीक्षित नामी बड़ा धर्म्मात्मा प्रजा-पालक हुआ है। वह एक दिन मृगया व्याज से भ्रमण करता हुआ क्षुधा-तृषा से पीड़ित श्रान्तचित्त होकर जलाशय ढूँढ़ने लगे यहाँ तक कि अङ्गिरा ऋषि के पुत्र शमीक मुनि के आश्रम पर पहुँचे और मुनि को

देखा कि शान्तचित्त मनसहित इन्द्रियग्राम के व्यापारों को रोक कर समाधि में स्थित है। राजा तो प्यास के कारण शुष्कतालु हो रहे थे और बातों का विचार न करके तुरन्त उनसे पानी पीने के निमित्त माँगा और जब मुनि ने समाधिस्थ होने के कारण राजा का कुछ सत्कार न किया तो वह क्रोध में आकर एक मृतक सर्प जो वहाँ मरा पड़ा था उठाकर धन्वा के नोक से मुनि के गले में डाल कर अपनी राजधानी को चले गये। यह समाचार पाकर शमीक मुनि के पुत्र शृंगी ऋषि जो कौशिकी नदी में ऋषिपुत्रों के साथ स्नान करते थे शाप देने के अर्थ जल ले कर संकल्प किया कि हे राजा परीक्षित! आज के सातवें दिन तक्षक नाग के दंशने से तुम्हारी मृत्यु हो जावै क्योंकि तुमने बड़ा अपचार किया है जो हमारे पिता के गले में मृतक सर्प डाल दिया है। और फिर अपने आश्रम पर आकर पिता को सचेत कर सारा वृत्तान्त उनसे कह

सुनाया। जब शमीक मुनि ने जाना कि राजा को मेरे पुत्र ने शाप दे दिया है तो बहुत अप्रसन्न हुए और शृंगी ऋषि से बोले। यथा भागवते—

अहो बतांहो महदज्ञ ते कृतं
स्वल्पीयसि द्रोह उरुर्दमो धृतः।
न वै नृभिर्नरदेवं पराख्यं
संमातुमर्हस्य विपक्वबुद्धे।
यत्तेजसा दुर्विषहेणागुप्ता
विन्दन्ति भद्राण्यऽकुतोभयाः प्रजाः॥

हे पुत्र तुमने मूर्खता से जो थोड़ा सा द्रोह करने पर राजा परीक्षित को इतना बड़ा दंड दिया है यह बड़ा ही पाप किया क्योंकि नरदेव साक्षात् परमेश्वर के तुल्य है उसको मनुष्यों के बराबर मानना बुद्धि की तुच्छता का सूचक होता है जिसके दुर्धर्ष तेज से प्रजागण निर्भय होकर अनेक प्रकार के आनन्दों को भोगते हैं। इससे जानना चाहिये कि प्रजा के सुख

आनन्द का कारण एक राजा ही है बिना उसके कदापि किसी को सौष्ठव प्राप्त नहीं हो सकता। जैसा कि भागवत में—

अलक्ष्यमाणो नरदेवनाम्नि
रथाङ्गपाणावयमङ्ग लोकः।
तदा हि चौरप्रचुरो विनङ्क्ष्य-
त्यरक्ष्यमाणोऽविवरूथवत्क्षणात्॥
तदद्य नः पापमुपैत्य नन्वयं
यन्नष्ट नाथस्य वसोर्विलुम्पकात्।
परस्परं घ्नन्ति शपन्ति वृञ्जते
पशून्स्त्रियोऽर्थान्पुरुदस्य वो जनाः॥

शमीक मुनि कहते हैं कि हे पुत्र! साक्षात् चक्रपाणि विष्णु भगवान् के तुल्य जो नरदेव अर्थात् मनुष्य के शरीर में विराजमान देवस्वरूप राजा है उसके बिना रक्षा-रहित यह लोक सर्प चौरादिकों के अधिक बढ़ जाने के कारण इस प्रकार नष्ट हो जाता है

जैसे अवि नाम भेड़ी के झुंडों में भेड़िया के आने से उनका लोप हो जाता है और बिना राजा के जो धनादिक नाश हो जाने के कारण से पाप होता है व दुष्ट जन परस्पर एक दूसरे के पशुओं को मारते हैं व स्त्रियों का अनिष्ट करते हैं और धन द्रव्यादिक हर लेते हैं यह सब पाप बिना राजा के उत्पन्न होता है यह शमीक मुनि कहते हैं इस समय में कि जब राजा परीक्षित न होंगे तो यह सब अपराध मेरे ही ऊपर आवेंगे क्योंकि उस अपराध का अन्य कोई सबन्धी मेरे व्यतिरिक्त दृष्टि नहीं आता और सनातन धर्म के हानि होने का भी कारण राजा की अनुपस्थिति में उत्पन्न होता है क्योंकि इसका रक्षक दूसरा कौन हो सकता, किसमें इतनी शक्ति देवांशयुक्त ईश्वर ने दी है जो बिना राजा के वर्णाश्रमधर्म की वास्तविक रक्षा कर सके। जैसा कि भागवत में कहा है—

तदार्यधर्मश्च विलीयते नृणां
वर्णाश्रमाचारयुतस्त्रयीमयः।
ततोऽर्थकामाभिनिवेशितात्मनां
शुनां कपीनामिव वर्णसंकरः॥

जब राजा नहीं रहता तो मनुष्यों का वर्णाश्रम आचार व वेदोक्त धर्म सब नाश को प्राप्त हो जाते हैं और मनुष्यों के हृदय में केवल अर्थ व काम की वासना प्रविष्ट हो जाती है जिससे श्वान, कपि, पशु आदिकों के व्यवहार करने से सब वर्णसंकर हो जाते हैं। शमीक मुनि कहते हैं कि हे पुत्र! राजा सम्राट् साक्षात् इन्द्रस्वरूप धर्म का पालक है। सो भूख प्यास से पीड़ित राजा परीक्षित को जो तुमने शाप दिया है वह बड़ा अधर्म किया, तुम्हारी बुद्धि परिपक्व नहीं रही। इस अपराध को सर्वात्मा भगवान् क्षमा करैं। क्योंकि निर्दोष अपने परिपालन करनेवाले राजा से विद्रोह करना सर्वथा निषिद्ध है जब कि

राजा के अत्याचार करने पर भी प्रजा का उसके साथ प्रतीकार का न करना हमारे धर्मशास्त्रों में प्रख्यात है तो न्याययुक्त राजा के साथ फिर कैसा।

तिरस्कृता विप्रलब्धाः शप्ताः क्षिप्ता हता अपि।
नास्य तत्प्रति कुर्वन्ति तद्भक्ता प्रभवोऽपि हि॥
इति पुत्रकृताघेन सोऽनुतप्तो महामुनिः।
स्वयं विप्रकृतो राज्ञा नैवाऽघं तदचिन्तयत्॥

जब कभी किसी को राजा किसी कारण से वा बिना कारण तिरस्कार कर देवे अर्थात् प्रतिष्ठा सम्मानादि से हीन कर देवै या उसकी सम्पत्ति का सर्वस्व हरण करले या विविध प्रकार की भर्त्सना, तर्जना, कुवाच्य आदि वाग्दंड देवै या कहीं दूर कर देवे वा निकाल देवे या मारै पीटै इत्यादि कोई अपकार करै पर प्रजा को यद्यपि किसी प्रकार का सामर्थ्य भी प्राप्त है तथापि अपने स्वामी के साथ उसके दुष्ट व्यवहारों का प्रतीकार करना किसी अवस्था में योग्य

नहीं है। इस रीति से अपने पुत्र शृंगी ऋषि को उप-देश करते हुये शमीक मुनि उसके किये हुए अधर्म से दुःखित हुये। यद्यपि राजा परीक्षित उनके साथ अन्याय कर चुके थे परन्तु महात्मा शमीक मुनि ने अपने धर्म पालन करने के निमित्त राजा का अपमान करना स्वीकार नहीं किया। इससे हे भारतवासी जन! आप लोगों को विचार करना चाहिये कि हम सब लोगों में कितनी सामर्थ्य है और वह सामर्थ्य कहां से प्राप्त हुई है ? क्योंकि सामर्थ्यप्राप्ति का मूल कारण धर्म है। जिस धर्म के विरुद्ध राज्यनियमों के न पालन करने की चेष्टा करते हो तो अधर्म में प्रवृत्त होने से सामर्थ्य स्वप्न में भी नहीं दिखाई देती। यथा पाद्मे—

अधर्मे तु प्रवृत्ता ये देवब्राह्मणपीडने।
तस्मादायुः क्षयं यान्ति तेषां श्रीरपि सुव्रत॥

जो कोई पुरुष अधर्म में प्रवृत्त होता है और देवता, ब्राह्मण महानुभावों को पीड़ा देता है

उस पाप से उसका आयुर्बल व श्री अर्थात लक्ष्मी शोभा आदिक नाश हो जाते हैं। इससे अब अच्छी भाँति जान सकते हो कि धर्म के विरुद्ध तो सामर्थ्य ही नहीं रह जाती और धर्म पर रहने से सामर्थी पुरुष को राजा का अपमान करना सदा काल से अयोग्य ही है। इससे इस समाधान की पूर्ति पर आप सब को अब अवश्य स्वामि-भक्ति में परायण होकर राज्य-व्यवस्था के अनुकूल व्यवहार करना चाहिए और मनुष्य-जन्म पाने का फल भोगना चाहिए।

—:o:—

पाठ ६

राज-व्यवहार

अब इस पाठ में चौथा आग्रह अर्थात जिस किसी प्रकार से राजनियमों के न मानने की चेष्टा उत्पन्न होती हो उनका सब का समाधान यह है कि राजा को सर्वथा मान्य, पूज्य, सर्वोपरि सर्वावस्था में जानना

चाहिए जिस प्रकार स्त्रियों के निमित्त पतिव्रत धर्म कहा गया है उसी प्रकार प्रजाओं के लिए स्वामिभक्ति है जैसा बृहत्पाराशर धर्मशास्त्र का प्रमाण है—

निर्गुणोऽपि यथा स्त्रीणां सदा पूज्यः पतिर्भवेत्
तथाराजाऽपिलोकानांपूज्यःस्याद्विगुणोऽपिसन्

जिस प्रकार स्त्रियों के निमित्त निर्गुण भी पति सदा पूज्य होता है उसी प्रकार संपूर्ण लोगों का पूज्य मान्य राजा है चाहे वह कैसाही गुणहीन हो इसका कुछ विचार न करना चाहिए। और ऐसा ही तुलसीकृत रामायण में भी है कि—

मातुपिता प्रभु गुरु की बानी।
बिनहि विचार करिय शुभ जानी॥
भानु पृष्ठ सेइय उर आगी।
स्वामी सेइय सब छल त्यागी॥

माता-पिता, गुरु और अपने स्वामी की बात को सुनकर तुरन्त शिर से धारण करना चाहिए। उसमें

कुछ सोच विचार का काम नहीं है, इसका परिणाम अच्छा ही होता है क्योंकि सूर्य देवता के सेवन की यह विधि है—उनको सम्मुख से आराधना करने में कुछ नेत्रादि की हानि का भय रहता है इस कारण पीठ के बल सेवन करना चाहिए और इसी भाँति अग्नि देवता को हृदय के बल से अर्थात् सम्मुख होकर। परन्तु स्वामी की सेवा सब प्रकार से अर्थात् आगे पीछे तिरछे सब ओर से सम्पूर्ण छल कपट छोड़कर करनी चाहिए। इससे जब राजा को ऐसा मानना धर्मशास्त्र से प्रमाण मिलता है कि जैसा स्त्रियों के निमित्त पति की सेवा सुख-सम्पत्ति यश आदि के प्राप्ति का कारण होती है तो कुछ स्त्रियों का धर्म व दृष्टान्त इस स्थान पर दिखलाना आवश्यक ज्ञात होता है। सो स्त्रियों का धर्म पति के साथ मनुजी ऐसा कहते हैं कि—

विशीलः कामवृत्तो वा गुणैर्वा परिवर्जितः।
उपचर्य्यः स्त्रिया साध्व्याः सततं देववत्पतिः॥

शील करके रहित होवे अथवा दूसरी स्त्री से प्रीति करने वाला होवे अथवा विद्या आदि करके हीन होवे चाहे देखने सुनने चलने बोलने कोई कार्य करने आदि गुणों से हीन हो तिस पर भी पतिव्रता स्त्री को पति की सेवा देवता के समान करने ही योग्य है इसी में उन का कल्याण होता है और संसार में सुयश के साथ जीवन व्यतीत कर अन्त समय शुभलोक को जाती है। इस पर एक पतिव्रता स्त्री का प्राचीन इतिहास मार्कण्डेयपुराण में ऐसा लिखा है कि— प्रतिष्ठानपुर में जिस को आजकल झूंसी कहते हैं, जो प्रयाग में है, उसमें एक ब्राह्मण जिस का नाम कौशिक था, उत्पन्न होकर अपने पूर्व जन्म के कर्मानुसार कुष्ठ-रोगातुर हो गया। उस की स्त्री ऐसी व्याधि की दशा में अपने पति को देवता के समान जानती थी और सम्पूर्ण कैंकर्य्य स्नेह से युक्त अत्यन्त विनीत होकर किया करती थी अर्थात् उठाना, बैठाना, उस के

अंगों को धोना पोंछना, शौच आदि क्रिया कराना, व रक्त आदि प्रवाहों को श्रद्धासमन्वित प्रक्षालन करना व उत्तम २ भोजन यथाशक्ति खिलाना व प्रिय भाषण करना इत्यादि सब प्रकारों से वह स्त्री अपने पति की सेवा में लीन रहा करती थी तिस पर भी वह कुष्ठरोगातुर कौशिक देव उस स्त्री को अत्यन्त क्रोध से कठोर २ वचनों में भर्त्सना देते रहते थे परन्तु वह स्त्री उस सब को उत्तम ही जान कर पति को देवता के समान मानती थी। एक दिन उस कौशिक ब्राह्मण ने अपनी भार्य्या से कहा कि मैं तो स्वयं चलने के योग्य नहीं हूं तू मुझ को उस वेश्या के स्थान पर पहुंचा दे जिस को कि मैं ने आज प्रातः समय राज-मार्ग पर होकर जाती हुई देखा है क्योंकि मेरा चित्त यद्यपि दिन व्यतीत हो गया और रात्रि आ गई पर उसी के मिलने में लगा हुआ है। जब इस प्रकार उस कामातुर अपने पति के वचन वह सत्कुल में

उत्पन्न हुई पतिव्रता स्त्री ने सुना तो श्रद्धासंयुक्त विकारहीन-चित्त होकर गाढ़ परिकर बाँधा व वेश्या के निमित्त अधिक शुल्क ले लिया इस भय से कि कदाचित् कुष्ठरोगातुर जानकर मेरे पति को वह स्वीकार न करै। और फिर अपने पति को कंधे पर उठाकर अंधेरी रात्रि में मेघों के गर्जते व बिजुली के चमकते समय मार्ग में अपने पति के हित की इच्छा करती हुई वह स्त्री चली। संयोगवश राज-मार्ग में मांडव्य जो वास्तव में चोर नहीं थे पर चोर की गति को प्राप्त शूलाबिद्ध पड़े थे, उन के कौशिक ब्राह्मण का चरण हीलने से जो अपनी पत्नी के स्कंध पर आरूढ़ चले जाते थे लग गया। जिस से मांडव्य को और अधिक क्लेश प्राप्त हुआ और क्रोध में आकर उन्हों ने शाप दे दिया कि जो प्रमादवश तुम ने मुझ को ऐसी दशा में और दुःख दिया है इस से सूर्योदय होते ही तुम्हारा शरीरान्त हो जावैगा।

इस शोकाकुल हृदय-विदारक माण्डव्य के शाप को श्रवण कर उस स्त्री ने दुःखित होकर कहा कि यदि ऐसा है तो सूर्य देवता उदय ही न होवैंगे। इस पर जब उस पतिव्रता स्त्री के प्रभाव से सूर्य उदय न हुए और बहुत काल तक रात्रि ही रात्रि रह गई तो सम्पूर्ण देवतागणों ने व्याकुल होकर ब्रह्मा की शरण जाकर प्रार्थना की कि अब संसार में यज्ञादिक कर्म का विना दिन होने के समय व्यवस्था ज्ञात हुए विना प्रतिबंध हो गया इस से हम सब को बड़ा दुःख प्राप्त है। ब्रह्मा ने उत्तर दिया कि पतिव्रता स्त्रियों का बड़ा प्रताप होता है उन के किये हुए विघ्नों को वही टाल सकती हैं। उत्तम होगा कि तुम सब अत्रि मुनि की पत्नी अनसूयाजी के शरण में जाकर अपने दुःख शमन के उपाय करो क्योंकि पतिव्रताओं में उनकी रेख है। ब्रह्मा की इस वार्ता को सुनकर इन्द्रादि देवताओं ने अनसूयाजी के निकट जाकर अपना सब वृत्तान्त कह सुनाया तब

अनसूयाजी सब देवताओं को साथ लेकर कौशिक ब्राह्मण के यहां आईं जिनको देखकर कौशिक की पत्नी ने अपने को धन्य समझा और कहा कि आप सबके आगमन का क्या कारण है ? तब अनसूयाजी ने कहा कि बिना सूर्योदय होने के बड़ी हानि हो रही है; इस अपने शाप को अनुग्रह करो। तब ब्राह्मण-पत्नी ने कहा कि इसमें मेरे पति की हानि होती है इस कारण मैं ऐसा नहीं कर सकती। तिस पर अनसूयाजी ने कहा कि तुम्हारा पति दिव्य हो जावैगा। पतिव्रताओं के निकट हानि कैसी होती है ? तब ब्राह्मण-पत्नी ने अपना शाप अनुग्रह सूर्योदय होने की प्रार्थना की जिस पर तुरन्त सूर्य भगवान् प्रकाशित हो आये और संपूर्ण लोकों का क्लेश दूर हो गया और कौशिक ब्राह्मण जो कुष्ठ-रोगातुर था उसको एक क्षणमात्र की मूर्च्छा सी आगई। उसके पश्चात् फिर उठ बैठा और उसका सम्पूर्ण शरीर दिव्य होगया जिससे ब्राह्मणी को भी

परमानन्द प्राप्त हुआ और देवताओं सहित अनसूया-जी कृतकार्य होकर अपने स्थान को गईं। इससे हे भाइयो! उसी पतिव्रता स्त्री की भांति जो आप लोग भी अपने स्वामी की भक्ति, सेवा, आज्ञा, पालन आदि में तत्पर रहोगे तो यदि तुम्हारे प्रभु अपांग, शक्ति-हीन सर्वगुण-रहित भी होगा तब भी तुम्हारा कल्याण उसी प्रकार से होगा जैसा कि कौशिक ब्राह्मण की पत्नी का जो पतिसेवा में परायण थी हुआ है। तो जब सर्वथा अयुक्त, गुण-हीन, अन्यायकारी, अत्याचारी राजाओं के समान मानना, पूजना, आज्ञा-पालन करना आदि हमारे धर्मशास्त्रों में कहा गया है तो सर्व गुण-युक्त, न्यायकारी, प्रजा-पालक व सम्पूर्ण राजलक्षण-सहित जो कि राजस्वरूप व दंड-व्यवस्था में कहे गये हैं हमारे महाराज सम्राट् सप्तम एडवर्ड जो विराज-मान हैं और वक्ष्यमाण रीति से मंत्रियों के साथ न्याय-प्रवर्तक हैं उनके राज्यनियमों को न पालन करना

किननी बड़ी हानि है, जो कहने में नहीं आ सकती, मूर्खता से लोग भोगते हैं और दोनों लोकों को नष्ट करते हैं। इससे हे भारतवासी भाइयो ! अपने मोहान्धकार से देखने के निमित्त किञ्चित् धर्मशास्त्र शिक्षारूपी अञ्जन को तो सेवन करो। यह सुरदुर्लभ मनुष्य का तन पाकर पशुओं की भाँति क्यों नष्ट करते हो ? अपने प्रजा-वत्सल भारतेश्वर के अनुकूल रह कर सम्पूर्ण यश-आनन्द क्यों नहीं भोगते जो तुम्हारे सब लोगों के हितार्थ कैसी २ सम्राट् सभायें नियत कर न्याय-नियुक्त किया है जैसा कि मानवादि धर्मशास्त्रों में कहा गया है—

मौलान्शास्त्रविदः शूराँल्लब्धलक्षान्कुलोद्गतान्।
सचिवान् सप्त चाष्टौ वा प्रकुर्वीत परीक्षितान् ॥
तैः सार्द्धं चिन्तयेन्नित्यं सामान्यंसन्धिविग्रहम् ।
स्थानं समुदयं गुप्तिं लब्धप्रशमनानि च ॥

मौल कहिये पिता पिता-महादिक की परंपरा से

शुद्ध संतति होवै और शास्त्रविद कहिये शास्त्र के जानने वाले हों और शूर हों तथा शस्त्र-विद्या को भली भांति जानते हों और शुद्ध कुल में उत्पन्न हों ऐसे सात अथवा आठ मन्त्रियों को मंत्र आदि करने के लिए नियत करें। क्योंकि सुख से करने योग्य काम को एक मनुष्य कठिनाई से कर सकता है तो राज-कार्य जिस का बड़ा फल है एक राजा अकेला उस को कैसे कर सकता है! इस कारण नियत किये हुए उन मंन्त्रियों के साथ सामान्य कहिए मंत्रों में नहीं छिपाने योग्य ऐसे संधिविग्रह आदिकों को सोचै और जिस में स्थित होय ऐसे स्थान तथा दंड कोशपुर देश रूप चार प्रकार के सोचै और जिस से दंड दिया जाय ऐसे दंड कहिये हाथी, घोड़ा, रथ, पयादे आदि के पोषण का चिंतन करै और कोश कहिए धन का समूह उसके आय-व्यय का तथा पुर की रक्षा आदि का और देश के बसनेवाले मनुष्य पशु आदि के धारण की योग्यता का चिंतन करै—और

समुदाय कहिये धान्य, हिरण्य आदि के उत्पत्ति-स्थान का चिंतन करै तथा गुप्ति कहिये अपनी और देश-रक्षा की चिंता करै और अपने परीक्षा किये हुये अन्न का भोजन करै और प्राप्त हुये धन के प्रशमन कहिये सत्पात्र में देने आदि का चिंतवन करै इत्यादि लक्षणों से जो कि राजा वा राज-मंत्रियों व न्यायाध्यक्षों के धर्मशास्त्रों में लिखे हैं इस समय परमेश्वर की कृपा व हमारे भारतवर्ष के भाग्य से हमारे सम्राट् महाराज सप्तम एडवर्ड युक्त हैं तिस से भारतवासी जनो ! अपने चित्त में विचार कर अपने सनातन धर्म पर आरूढ़ होवो और अपने ऐसे न्यायकारी प्रजा-वत्सल की सेवा व आज्ञापालन में चित्त लगावो जिस से तुम्हारा यह मानव-शरीर चरितार्थ हो जावै और संसार में यश व परलोक में निर्वाह होवै ।

—:०:—

पाठ १०

राज-व्यवहार

पूर्व के पाठों में कहे हुये समाधानों से यह अच्छी भांति सिद्ध हो चुका है कि स्वामी की आज्ञा-पालन करना सर्वावस्था में सर्वथा मनुष्यों के लिये योग्य व सनातन-धर्म है इस से सब आग्रहों के दूर हो जाने पर अब अवश्य हमारे भारतनिवासी जन राज-व्यवस्थाओं में श्रद्धा-संयुक्त तत्पर रहकर अपने सनातन धर्म की मर्य्यादा रक्षण करते हुये पूर्वज-चरितानुसार अपने जीवन का साफल्य करैंगे और भारतेश्वर महाराज सम्राट् के प्रसाद से सम्पूर्ण सुख-आनन्द भोगैंगे। हां एक प्रकार से हमारे आधुनिक मार्गावलम्बी भाइयों को तो जो सनातनधर्म से पराङ्मुख होकर नवीन विचार आभासों के संसर्ग की वासना से वासितचित्त होकर अधर्म शाखाओं के

आश्रित हो रहे हैं इस धर्मराज सम्राद् महाराज भारतेश्वर की अनुशासना सेवन स्वीकार कराने में मेरा यह 'मनुष्यधर्मदर्पण' पूर्णतया सामर्थ्य रखने में सशङ्कित होता है जिस के कारण ऐसी अवस्था में समय सम्राद् भारतमंडलेश्वर की सहायता का अपे-क्षित होता है। क्योंकि सनातन से जब २ कभी धर्म में ह्रास होता आया है तब २ महाराज सम्राद् ही की रक्षा से रक्षित होता रहा है और धर्मशास्त्रों का भी यही प्रमाण है कि राजा ही वर्ण आश्रमों के धर्म-रक्षण का प्रतिभू किया गया है और वही मुख्य प्रजा हैं व रक्षित रहने के योग्य हैं जिस से कि राजा उन प्रजाओं का रक्षक है जो कि अपने अपने धर्म में स्थित हों और जो सनातन धर्म से विरुद्ध होने की चेष्टा करै तो राजा उन को उन के सनातन-धर्म पर स्थित रक्खे जैसा कि निम्न लिखित प्रमाणों से सिद्ध है—

स्वे स्वे धर्मे निविष्टाना सर्वेषामनुपूर्वशः ।
वर्णानामाश्रमाणां च राजा सृष्टोऽभिरक्षिता ॥
(मनुः)

क्रम से अपने २ धर्मों को करनेवाले ब्राह्मण आदि सब वर्णों की तथा ब्रह्मचारी आदि आश्रमों की रक्षा करनेवाला राजा विधाता ने उत्पन्न किया है तिस से उन की रक्षा न करता हुआ राजा प्रायश्चित्ती होता है। इस से यह सूचित होता है कि अपने सनातन-धर्म के त्याग करनेवालों की रक्षा न करने में भी राजा प्रायश्चित्ती नहीं होता है। और, इसी का प्रतिपादक वाक्य बृहत्पाराशर-धर्मशास्त्र में ऐसा प्रमाण है।

पाराशरे—

स्वकर्मस्था नृपो लोकान्पतिपुत्रानिवौरसान् ।
शिक्षयेद्धर्मविद्दण्डैरधर्मकारिणो जनान् ॥

धर्म-नीति का जाननेवाला राजा उन प्रजाओं को जो अपने सनातन धर्म के अनुष्ठेय कर्मों पर स्थित

हों इस प्रकार से शिक्षा देवे जैसे पिता पुत्र को नीति सिखलाता है और अधर्म मार्ग पर टिके हुए मनुष्यों को दंड देकर उन के सनातन धर्म पर स्थित रहने की आज्ञा रूप शिक्षा देवै और दंड का प्रकार उत्तम मध्यम निकृष्ट रूप से दो प्रकार के होते हैं एक धन दंड, दूसरा तनु दंड । जैसा कि बृहत्पाराशरे—

सर्वार्थपादश्च हरश्च दण्डौ
पात्यौ नृपेणेति वदन्ति सन्तः ।
पाण्यंघ्रिविच्छेदनमारणं च
निर्वासनं राष्ट्रत एव सद्यः ॥

सम्पूर्ण धन या उस का कोई भाग हरण और शरीर-व्यथा अर्थात् हस्त चरण इत्यादि कटवा लेना व मार डालना व तुरंत राज्य के बाहर कर देना इत्यादिक दंड संत लोगों ने अपराध के अनुसार देना कहा है। इस से राजा को अच्छी भाँति विचार कर दंड देना उचित है ।

ज्ञात्वापराधं मनुजस्य यस्तु
देशं च कालं च वपुर्वयश्च ।
दण्ड्येषु दण्डं विदधाति भूभृत्
साम्यं स बध्नाति पुरन्दरस्य ॥
यः शास्त्रदृष्टेन पथा नरेशो-
दण्डं विदध्याद्विधिवत्कराँश्च ।
सोतीव कीर्तिं वितनोति गुर्वी-
मायुश्च दीर्घं दिवि देवभोगान् ॥

जो पृथ्वीपति राजा मनुष्यों के अपराध को अच्छी भाँति जानकर और देशकाल पात्र के अनुकूल अपराधियों को दंड देता है वह बड़ी कीर्ति व आयुर्बल के साथ सांसारिक सुखों को भोग कर स्वर्ग में देवताओं के भोग को भोगता है अर्थात् इन्द्र की तुल्यता को प्राप्त होता है। इसी प्रकार यथोचित कर ग्रहण करने से भी वही फल प्राप्त होता है जो शास्त्र की रीति राजा दंड देता है और सुख ऐश्वर्य्य यश आदि का

भागी होता है व इसी प्रकार राजा उन मनुष्यों को मार्ग पर लगाने से भी यश प्राप्ति करता है जो अपने सनातन धर्म से विचलित हो रहे हों। जैसा कि पाराशर धर्मशास्त्र में कहा है-

यः त्यक्तमार्गाणि कुलानि राजा
श्रेणीश्च जातीश्च गुणाँश्च लोकान्।
आनीय मार्गे विदधाति धर्मं
नाकेऽपि गीर्वाणगणैः प्रशस्यः ॥

जो राजा उन मनुष्यों को जो अपने सनातन धर्म को छोड़कर आधुनिक कल्पित मार्गों पर चल रहे हैं व अपने कुल व पंक्ति धर्म के विरुद्ध जातिगुण व देशाचारों से विपरीत बर्ताव करनेवाले हैं, सनातनधर्म के मार्ग पर लाकर सद्धर्म का उपदेश करता है वह राजा स्वर्ग में भी देवताओं से प्रशंसा किया जाता है। इससे इन सब कहे हुए गुणों से युक्त जो हमारे भारतेश्वर महाराज सप्तम एडवर्ड हैं वह सनातन-धर्म के विमुख चलने-

वालों को तो धर्मशास्त्र ही के अनुसार दंड देते आते हैं जिसके कारण से अन्य मनुष्यों को भी जो धर्म-विरुद्ध आचरण करने की चेष्टा करते हैं शासित हो जाना पड़ता है। यद्यपि उन अपराधियों को उनके कुल-सहित दंडित होना विहित ज्ञात होता है परन्तु हमारे सम्राट् महाराज की नीति-विचक्षणता उसी प्रकार चरितार्थ होती है जैसा कि अपराध के विषय में पाराशर स्मृति में कहा है—

कृते तु लिप्यते देशस्त्रेतायां ग्राम एवच ।
द्वापरे कुलमेकं तु कलौ कर्ता विलिप्यते ॥

सत्ययुग का यह धर्म था कि जहां अपराधी रहता था उसके अपराध से देश भर अपराधी माना जाता था और त्रेता में केवल वह ग्राम जिसमें अप-राधी का आश्रम रहता था व द्वापर में अपराध करनेवाले का सम्पूर्ण कुल दंड-भागी होता था और अब कलि में केवल अधर्म करनेवाला ही अपराधी

माना जाता है जो कि हमारे भारतेश्वर की राज्य-व्यवस्था में प्रचलित है जैसे कि दो भाइयों से एक तो अपने दुराचार से कारागार-वास करता है और दूसरा अपने सदाचार के प्रभाव से किसी राज्याधिकार पर प्रतिष्ठित हो रहा है। इस प्रकार धर्मशास्त्र की मर्य्यादा दंड-व्यवस्था में हमारे सम्राट् महाराज ही की रक्षा से रक्षित है और कर-ग्रहण में जहां तक देखा जाता है हमारे धर्मशास्त्र ही की रीति का व्यवहार दृष्टि आता है। जैसा कि बृहत्पाराशर स्मृति में कहा है—

पुष्पं पुष्पं विचिन्वीत मूलच्छेदं न कारयेत्।
मालाकार इवारामे प्रजासु स्यात्तथा नृपः॥

जिस प्रकार से वाटिका-आरामों में माली फूले हुये फूलों को तोड़ता है और उनके मूल का छेदन नहीं करता है इसी प्रकार राजा समय २ पर शस्य सम्पन्नतायुक्त प्रजाओं से कर ग्रहण करता है और

प्रजापालन का भी व्यवहार माली ही की भाँति राजा करता हुआ विख्यात-कीर्ति होता है।

उत्खातान्प्रतिरोपयन्कुसुमिता-
शिचन्वँल्लघून्वर्द्धयन्।
कुब्जान्कराटकिनो बहिर्निगमयन्
विश्लेषयन्संहतान्॥
अत्युच्चान्नमयन्नतान्समुदयन्
नुन्नामयं भूतले।
मालाकार इव प्रयोगनिपुणो-
राजा चिरञ्जीवति॥

जैसे माली वाटिका में उखड़े हुये पेड़ों को लगाता है और फूले हुओं को चुनता है व छोटे २ वृक्षों को सेवा कर बढ़ाता है और टेढ़े कुचाली कंटकी वृक्षों को बाहर निकालता है और सघन वृक्षों को अन्तराल करता है जिससे उनको जीविका, यथेष्ट बल मिल सके और अत्यन्त ऊंचे बढ़ जाते हैं उनको झुकाता है

और झुके हुओं को बढ़ने के निमित्त ऊपर को उठाता है इसी प्रकार से संसार में राजा प्रजाओं के साथ व्यवहार करता हुआ दीर्घकाल तक प्रजा-पालन करने में विराजमान रहता है। सो तो यह सब पूर्वोक्त गुण हमारे सम्राट् महाराज सप्तम एडवर्ड में विद्यमान ही हैं इस से सनातन-धर्मावलम्बियों को तो यह ग्रन्थ पूर्ण रीति से उपयोगी है और उस के विरुद्ध चलने-वालों के निमित्त भी उस अवस्था में उपयोगी होगा जब हमारे धर्म-पालक नीतिमान् महाराज भारतेश्वर के दंड से दंडित होकर अपने प्राचीन सनातन धर्म पर फिर स्थित होवैंगे और अपने पूर्वजों के आचरण पर चल कर स्वामि-भक्ति-महिमा का जीर्णोद्धार करना चाहैंगे।

—:o:—

पाठ ११

राज-व्यवहार

अब इस स्थान पर दो एक प्राचीन इतिहास

स्वामि-भक्ति-सेवन का, जो कि अपने सनातन धर्म पर आरूढ़ थे, लिखा जाता है।

(१) प्रथम यह कि पूर्वकाल में एक राजा हरिश्चन्द्र नामी अयोध्या में हुआ था जिस की उदारता व नीति-निपुणता जगत विख्यात थी। इस से एक दिन विश्वामित्र नामी ऋषि ने आकर राजा हरिश्चन्द्र से द्रव्य मांगा और उन के मांगने के अनुसार राजा सब कुछ देता गया। अन्त में सर्वस्व दान कर दिया तब भी विश्वामित्र सन्तुष्ट न हुए और कहा कि तीन लक्ष रुपया विना हमारा काम अभी न चलेगा। यदि इस को आप न दे सकैंगे तो मैं यह सब दान जो कि आप ने दिया है छोड़कर चला जाऊँगा और आप का संसार में दुर्यश होगा।

इस बात को सुन कर राजा हरिश्चन्द्र बड़ी चिन्ता को प्राप्त हुये। अन्त में अपनी रानी शैव्या और पुत्र रोहिताश्व के साथ काशीजी को चले और विश्वामित्र

को भी संग ले लिया। वहां पहुँचकर एक श्वपच से कहा कि हम तीनों लोगों को अपने यहां धरोहर धर लो और इन ब्राह्मण देवता को तीन लक्ष मुद्रा दे दीजिये; मैं आप के यहाँ का सब कार्य जिस पर नियुक्त किया जाऊंगा, सत्यता के साथ करूंगा। श्वपच ने उन के शुद्ध भाषण से स्वीकार कर लिया और ब्राह्मण को तीन लक्ष रुपया देकर हरिश्चन्द्र को श्मशान में मृतकों के कर ग्रहण करने के निमित्त नियुक्त किया। वहां उसने अपनी सत्यता से स्वामि-भक्ति ऐसी दिखाई कि परमेश्वर ने स्वयं प्रसन्न होकर उन का उद्धार कर दिया और संसार भर में यश फैलाया—अर्थात् व्यवस्था यह हुई कि एक दिन राजा हरिश्चन्द्र का पुत्र रोहिताश्व मर गया और उन की रानी शैव्या उस को लेकर श्मशान में आई, तब तो हरिश्चन्द्र ने कहा कि बिना कर लिये हुये हम मृतक-कर्म नहीं करने देंगे। उन की पत्नी शैव्या ने बहुत विनय-प्रार्थना

की कि महाराज ! यह आप का पुत्र है, जो मृतक हो गया है और ऐसी विपत्ति में जब कि मेरे पास भी कुछ नहीं है, आप को दया करनी चाहिये। आप ऐसे निठुर क्यों होते हैं। राजा हरिश्चन्द्र ने कहा कि जो कुछ मेरे स्वामी की आज्ञा है, मैं उस को पालन करता हूं और यही परम धर्म है। स्त्री पुत्र आदि चार दिन की सम्पत्ति है। केवल अपना धर्म सदाकाल सहायक होता है ऐसे अपने परम मित्र धर्म से मैं क्यों विमुख होऊं। जैसा कि कहा है—

दारापुत्रधनानि परिजनसहितं बन्धुवर्गं प्रिया वा।
माताभ्रातापितावाश्वशुरजनं भोगमैश्वर्य्यवित्तम्
विद्यारूपं विमल तनुधरं यौवनं मानदर्पम् ॥
सर्वं व्यर्थं मरणसमये धर्म एकः सहायः।

स्त्री, पुत्र, धन, कुल, परिवार, बन्धुवर्ग, मित्र वा माता, भ्राता, पिता, श्वशुर, जनभोग, ऐश्वर्य्य, विद्या-स्वरूप, उत्तम शरीर, युवा अवस्था, मान-प्रतिष्ठा, अहं-

कार आदि सम्पूर्ण पदार्थ मरण समय में व्यर्थ हो जाते हैं, केवल एक धर्म ही सहाय करता है, तो ऐसे स्वाम्याज्ञा-पालन धर्म को मैं कैसे छोड़ सकता हूं। उत्तम होगा कि तुम अपना वस्त्र जो पहिने हो, आधा उतार कर दे दो। जब रानी शैव्या ने देखा कि मेरा पति धर्मसंकट में पड़ा हुआ है, इससे धर्म की अवश्य रक्षा करनी योग्य है, अपना धौतवस्त्र उतार कर चीड़ने के निमित्त अंगुली लगाई तब तो ऐसे धर्म का तेज न सह कर ईश्वर ने स्वयं प्रकट होकर उनका सकल मनोरथ सिद्ध करदिया और मृतक पुत्र को भी जिला दिया, व श्वपच की दासता छुड़ा कर सदैव के राज्य का अधिकारी बनादिया। इससे हे भाइयो! यह सत्य-निष्ठता व स्वामी की आज्ञा-पालन का फल है कि आज तक राजा हरिश्चंद्र का यश चला आता है और छोटे बड़े सब कोई जानते हैं।

(२) दूसरा इतिहास यह है कि प्राचीन काल में

भारतवर्ष का एक चक्रवर्ती राजा जिसका नाम शूद्रक था, उत्पन्न हुआ था, उसके यहां दक्षिण दिशा से एक क्षत्रिय जिसका नाम वीरबल था, उसकी उदारता व नीति-विचक्षणता श्रवण कर अपनी स्त्री पुत्र व पुत्री के साथ आया और प्रतीहार से कहा कि मेरे आगमन की सूचना श्रीमान् महाराज के समीप करदेनी चाहिये। प्रतीहार ने राजा से जब उसके आने व द्वार पर स्थित होने का समाचार निवेदन किया तो नीतिनिधान राजा ने तुरंत आज्ञा दी कि उस पुरुष को शीघ्र हमारे समीप लाओ। तब प्रतीहार ने वीरबल को राजा के निकट उपस्थित करदिया। तब वीरबल ने विनयपूर्वक प्रार्थना की कि महाराज ! मैं जीविका के निमित्त श्रीमान् का यश श्रवण कर सेवा में उपस्थित रह सुश्रूषा करना चाहता हूं। राजा ने उसकी शुद्ध वार्ता सुन कर स्वीकार करलिया और पूछा कि क्या मासिक वेतन पर रह सकते हो ? तब तो वीरबल ने निवेदन किया कि महा-

राज एक सहस्र मुद्रा में जो आह्निक वेतन होगा, मेरा निर्वाह हो सकता है, इस बात पर सभासद मंत्रियों ने अपना मुख फेर कर इस प्रकार के वेतन से अपनी असंमति प्रकट की। परन्तु राजा ने कहा कि जो इतना वेतन यह स्वयं चाहता है तो इसमें अवश्य कुछ भेद होगा। निदान सब बातें निश्चय होगईं और राजा ने कोषाध्यक्ष को बुला कर आज्ञा देदिया कि एक हज़ार रुपया नित्य वीरबल को दिया करो। उस दिन तो वह रुपया लेकर अपने स्थान पर आया और आधा रुपया ब्राह्मणों को बांट दिया व एक चौथाई अर्थात २५०) रुपया लूले लँगड़े काने कुबड़ों अंगहीनों को भोजन वस्त्र में दिया और बची हुई एक चौथाई में अपने कुटुम्ब का अपने आत्मासहित पालन करने लगा और संध्या के समय असिचर्म लेकर राजद्वार पर रक्षा करने के निमित्त उपस्थित हुआ और इसी प्रकार नित्य किया करता

था व रात्रि के समय जब कभी राजा नींद से जाग पड़ते थे और पूछते थे कि द्वार पर कौन है तब वह तुरन्त यही उत्तर देता था कि पृथ्वीनाथ ! आपका सेवक वीरबल है, क्या आज्ञा होती है। इस भाँति रहते हुये उसको कुछ काल व्यतीत हुआ। एक दिन का यह समाचार हुआ कि अर्ध रात्रि के समय दक्षिण दिशा से एक स्त्री के रोने का शब्द सुनाई पड़ा जिससे चौंक कर राजा जाग पड़े और पूंछा कि कौन है ? तब उसी प्रकार वीरबल ने कहा कि मैं श्रीमान् का सेवक हूं। क्या आज्ञा है, इस पर राजा ने कहा कि जो वह स्त्री रोती है उसका समाचार हम जानना चाहते हैं, उसको क्या कष्ट है, उसके दूर करने का यत्न करना चाहिये। इतनी बात सुनकर वीरबल उसी ओर को, जहां से रोने का शब्द सुनाई देता था, चल दिया और इस बात के जानने के निमित्त कि वीरबल वहां जाकर क्या करता है, परम

पराक्रमी निर्भीत शौर्य्यरस-पूरित, प्रजा-वत्सल राजा शूद्रक भी वीरबल के पीछे २ कुछ दूरी के अन्तराल से सिधारा। क्योंकि सत्य सेवक वही कहलाता है जो समय कुसमय सदाकाल अपने स्वामी के काम आवै और शुद्ध अन्तःकरण से उसकी आज्ञा का परि-पालन करता रहै। जब वीरबल वहां पहुंचा, जहां से कि रोने का शब्द आरहा था, तो क्या देखता है कि एक परम मनोहर सर्व-अङ्ग-सुडौल शोभा की खानि चन्द्रमुखी युवती सम्पूर्ण आभूषणों से भूषित दिव्य वस्त्र पहिने हुये अंधेरी रात्रि में अपनी अद्भुत कान्ति-चन्द्रिका से प्रकाशित होरही है और बड़े उच्च स्वर से ढाढ़ मार २ कर रोदन करती व नाचती कूदती इधर उधर दौड़ती फिरती है और अपने हाथों से अपना वक्षःस्थल ताड़न करती हुई हाय २ कर, पछाड़ खा पृथ्वी पर गिर पड़ती और फिर उठकर उसी भाँति नाचने कूदने लगती थी। परन्तु विचित्रता

यह थी कि उसकी आखों से अश्रुपात होना तो क्या एक अश्रुबिन्दु तक दिखाई नहीं देता था। ऐसा अद्भुत चरित्र देखकर वीरबल ने उस स्त्री से पूछा कि हे भद्रे ! तू कौन है और क्यों इतना रोती पीटती हो ? तुमको किस प्रकार का दुःख है, मुझसे बतलाओ, यथा शक्ति उस दुःख के दूर करने का प्रयत्न अवश्यमेव किया जावैगा, क्योंकि यही राजा व राज्याधिकारियों का धर्म है। जैसा कि मनुस्मृति में प्रमाण है—

विक्रोशन्त्योयस्य राष्ट्राद्ध्रियन्ते दस्युभिः प्रजाः।
संपश्यतः सभृत्यस्य मृतः स न तु जीवति ॥
क्षत्रियस्य परो धर्मः प्रजानामेव पालनम् ।
निर्दिष्टफलभोक्ता हि राजा धर्मेण युज्यते ॥

जिस राजा के राज्य में प्रजा चौरादि दुष्ट जनों से पीड़ित होती हैं और राजा व उसके राज्याधिकारियों के देखते हुये प्रजा का धन हरा जाता है और वह पुकारती रहती हैं तो उस राजा और उस के राज्या-

धिकारियों को मृतक तुल्य जानना चाहिये। वह जीता नहीं है क्योंकि क्षत्रिय अर्थात् राजा का परमधर्म प्रजाओं का पालन करना ही कहा गया है जिससे कर आदि का कहे हुये प्रकार से भोगनेवाला राजा धर्म से संयुक्त होता है क्योंकि प्रजाओं से जो कर ग्रहण किया जाता है वह उनके रक्षा ही के निमित्त है यदि रक्षा न की हुई प्रजा कुछ अधर्म-आचरण करै तो उसके अपराध में राजा का भी भाग लगता है क्योंकि प्रजा-रक्षण ही करना एक राजा का धर्म है जैसा कि याज्ञवल्क्य स्मृति में कहा गया है। वह यह है–

अरक्ष्य माणाः कुर्वन्ति
यत्किञ्चित्किल्विषं प्रजाः।
तस्मात्तु नृपतेरर्धं
यस्माद्ग् गृहणात्यसौ करान्॥

सावधानी से रक्षा न करने के कारण प्रजागण

नीच कर्म, चोरी, परदारगमन आदि करने लगते हैं और जो कि राजा केवल प्रजा की रक्षा ही करने के निमित्त उन से कर लेता है इस से विना रक्षा की हुई प्रजा का किया हुआ पाप आधा राजा ही को होता है और तुलसीकृत रामायण में भी प्रमाण दिया गया है जो यह है—

आसु राज प्रिय प्रजा दुखारी ।
सो नृप अवश नरक अधिकारी ॥

इस कारण से हे सुभगे ! मैं तुम्हारे क्लेश दूर करने का उद्योग अवश्य करूँगा, आगे ईश्वर जैसी सहायता करै। इतना सुन कर उस स्त्री ने कहा कि मैं राजा शूद्रक की लक्ष्मी हूं जब से मैं उन के यहां आई हूं, नीतिपूर्वक आज तक विविध भांति के सुख-भोग करती रही हूं, अब इस बात का मुझ को बड़ा पश्चात्ताप है कि कल के दिन राजा का देहान्त हो जायगा, मैं किस के यहां जाकर रहूंगी और यह भी

नहीं जानती कि क्या क्या आपत्तियां अनीतिरत दुर्व्यसनियों के साथ भोगनी पड़ेंगी, यही कारण मेरे रोने पीटने का है। यह वज्रपात सदृश हृदय-विदारक वचन उस दिव्य स्त्री अर्थात् लक्ष्मीजी से सुन कर वीरबल का चित्त सन्नाटा सा हो गया, अन्त में धैर्य ग्रहण कर प्रार्थना की कि हे देवि! कोई ऐसा उपाय भी है कि हमारे राजा के प्राण की रक्षा होवै और आप उन के साथ अचल वास करें। लक्ष्मीजी ने कहा कि—

सत्यश्रमाभ्यां सकलार्थसिद्धिः ।

सत्य और परिश्रम करने से सम्पूर्ण अर्थ-सिद्धि प्राप्त कर सकते हैं। इस में यत्न तो है परन्तु वह तुम से हो न सकेगा। तब वीरबल ने फिर प्रार्थना की कि मैं राजा का निष्कपट भक्त हूं, अपने आत्मा तक को उन के निमित्त अर्पण कर सकता हूं। जब लक्ष्मी जी ने वीरबल की ऐसी स्वामि-भक्ति देखी तो बतलाया

कि तुम यदि अपने पुत्र को कात्यायनी देवी के स्थान में जो इसी पुर में स्थित है प्रसन्नता से बलि प्रदान राजा के रक्षा-निमित्त कर दो तो वह चिरञ्जीवी हो जावै और मैं भी सुखपूर्वक उस के यहां अचल निवास करूं, परन्तु तुम्हारा पुत्र इस बात को प्रसन्नता से स्वीकार करे और उस की माता व भगिनी उस के चरण बलि देने के समय पकड़े रहैं और खिन्न-चित्त न होवैं और इस के व्यतिरिक्त दूसरा उपाय राजा के बचाने का नहीं है। इतना कह कर लक्ष्मी जी अन्तर्धान हो गईं और वीरबल अपने घर की ओर चला और राजा भी चुपके से पीछे २ उस के हो लिये। वीरबल ने अपने घर पहुंचकर बेटा-बेटी और स्त्री को जगाया और सब वृत्तान्त कह सुनाया। बेटा बोला हे पिता! जग में उसी का जीना सफल है जो स्वामी के काम आवै, मैं उपस्थित हूं, धन्य भाग मेरे हैं कि मेरा शरीर जो अन्त में नष्ट ही जाता, आज हमारे

स्वामी के कार्य आ जावै। दूसरा लाभ यह है कि साक्षात् पिता की आज्ञा पालन जिस का फल तुलसीकृत रामायण में यह लिखा है कि माता-पिता की व स्वामी और गुरु की बात बिना विचारे ही करना अच्छा होता है और सुयश का भागी होता है—

अनुचित उचित विचार तजि
जो पालहि पितु वयन।
ते भाजन सुख सुयश के
बसहिं अमरपति अयन॥

और तीसरा लाभ यह है कि देवता के अर्थ बलि होना इससे बढ़ कर और क्या होगा। अब इसमें विलम्ब न करना चाहियें। तब वीरबल ने अपनी स्त्री से कहा कि जो तुम प्रसन्नता से अपने पुत्र को दो तो मैं राजा के निमित्त उसे देवीजी के भेंट करदूं। वह बोली मुझे बेटा-बेटी भाई-बन्धु मा-बाप आदि किसी से कुछ प्रयोजन नहीं है, मेरी तो गति तुम्हीं

तक है, क्योंकि पति चाहै कैसा ही हो स्त्री को उसी के अनुकूल चलना मुख्य धर्म है—और लड़की ने भी उसी के अनुकूल कहा। निदान चारों ने मन में विचार किया कि बिना इस कठिन काम करने के न तो हम सब राजा से उऋण होंगे और न परलोक में निर्वाह होगा और मरने पर उद्यत होगये और देवीजी के मंदिर में चारों आये और वीरबल ने देवीजी की पूजा कर हाथ जोड़ कर प्रार्थना की कि हे देवि ! मेरे बेटे की बलि ग्रहण करो और हमारे स्वामी को चिरञ्जीवी कर दो फिर ऐसा हाथ खड्ग का मारा कि उसके पुत्र का शिर धड़ से पृथक् होगया और पृथ्वी पर लोटने लगा, ऐसा समाचार देख कर उसकी बेटी भी बलि होगई और बेटे-बेटी का मरण देख उसकी माता ने भी उसी खड्ग से अपना शिर काट डाला। अन्त में वीरबल ने भी जब अपने सारे कुटुम्ब का नाश होता देखा तो अपना जीवन भी निष्फल समझा कि अब

संसार में किसके निमित्त पड़ा रहूं, देवीजी से प्रार्थना करके कि देवी हमारे राजा को चिरंजीवी विशेष कर दो और मेरे शिर की भी भेंट स्वीकार करो, उसी खड्ग से अपना शिर काट कर बलिप्रदान होगया— वीरबल की और सारे उसके कुटुम्ब की ऐसी अद्भुत और सच्ची सेवकाई देखकर राजा शूद्रक चकित होगया और मन में विचार किया कि मेरे ऐसे कितने जीव संसार में नित्य मरते जीते रहते हैं पर इनके समान लोक में न कोई होगा और न कोई है। अब मेरे ऐसे राज्य करने से क्या? क्योंकि जिसके निमित्त ऐसे धर्मनिष्ठ स्वामि-भक्त का कुल-नाश होगया। राजा ने चाहा कि मैं भी अपना गला काट दूं कि इतने में देवीजी ने प्रकट होकर राजा को बचा दिया और वीर-बल को भी कुटुम्ब सहित सजीव कर दिया। राजा वीरबल की ऐसी उदारता देख बहुत प्रसन्न हुआ और राजधानी में आकर अपने और मन्त्रियों से सब समा-

चार कह सुनाया। वीरबल की ऐसी अद्भुत कथा श्रवण कर सब लोग उनकी बड़ाई करने लगे और राजा ने अपना आधा राज्य उसको देदिया। इससे सनातन-धर्म के माननेवालों की ऐसी ही सहस्रों कथायें हैं। हे भारतवासियो ! आपको अपने पूर्वजों के चरित स्मरण करने चाहियें और मनसा, वाचा, कर्मणा स्वामि-भक्ति करनी चाहिये, इसी में दोनों लोकों का लाभ व मनुष्यता-प्राप्ति होगी।

—:०:—

पाठ १२

गुरु-व्यवहार

जानना चाहिये कि गुरु शब्द जिस का अर्थ तत्त्व पदार्थ का जाननेवाला है, गॄ धातु से बना है। जो ज्ञान होने अर्थ का द्योतक है व उणादि के 'कृग्रोरुच्च' सूत्र से बनता है। सो गुरु सर्व साधारण मनुष्यों में अधिक पूज्य व मान्य है क्योंकि उसी की कृपा से सम्पूर्ण लौकिक पारलौकिक व्यवहारों की प्रवृत्ति

का ज्ञान प्राप्त होता है और दोनों लोकों का सुख आनन्द यश धन विद्या आदि सकल पदार्थ उसी गुरु की कृपा से मिलते हैं इस कारण प्रथम गुरु की, सम्मानपूर्वक प्रणाम सेवा करनी चाहिये जैसा कि मनुस्मृति में कहा है—

लौकिकं वैदिकं वापि
तथाध्यात्मिकमेव वा।
आददीत यतो ज्ञानं
तम्पूर्वमभिमादयेत् ॥

लौकिक नाम अर्थशास्त्र आदि-ज्ञान व वैदिक कहे वेदार्थ धर्म-शास्त्र-ज्ञान व आध्यात्मिक नाम ब्रह्मज्ञान वेतान्तशास्त्र इन तीन प्रकारों के ज्ञानों को जिस गुरु से समस्त व्यस्त रीति से पावै उस गुरु को बहुत मान्य पुरुषों की श्रेणी में प्रथम अभिवादन करना उचित है और यदि इन तीनों प्रकार के ज्ञान तीन गुरु से प्राप्त हुये हों तो उन में उत्तरोत्तर पूज्य

हैं अर्थात् सब से प्रथम अध्यात्म गुरु, तत्पश्चात् वैदिक गुरु, तदनन्तर लौकिक गुरु वन्दनीय व माननीय हैं। इन तीन प्रकार के गुरु देवों के पश्चात् अन्य मान्य पुरुषों का मान सत्कार आदिक से आदर करना कहा गया है क्योंकि विना गुरुदेव की प्रसन्नता कोई देवता मनुष्य ऋषि मुनि आदिक प्रसन्न नहीं होते और उस की प्रसन्नता की अवस्था में सब ही अनुकूल हो जाते हैं । यथा लैंगे महापुराणे—

ब्रह्मा हरिस्तथा रुद्रो देवाश्च मुनयस्तथा ।
कुर्वन्त्यनुग्रहं तुष्टा गुरौ तुष्टे न संशयः ॥

ब्रह्मा, विष्णु, महेश व सम्पूर्ण देवता ऋषि-मुनियों के सहित उस दशा में प्रसन्न होकर उस मनुष्य के ऊपर अनुग्रह करते हैं जिस के ऊपर उस का गुरुदेव प्रसन्न रहता है इस कारण सब प्रकार से गुरुदेव की आज्ञा मानना व आदर सत्कार से पूजा करना सर्वथा कल्याणदायक होता है और विपरीत

व्यवहार से अन्यथा । जैसा कि लिंगपुराण का वचन प्रमाण है ।

कर्मणा मनसा वाचा गुरोः क्रोधं न कारयेत् ।
तस्य क्रोधेन दह्यन्ते आयुः श्रीर्ज्ञानसत्क्रिया ॥

मन वचन कर्म से गुरुदेव को अवमानित वा क्रोधित कदापि न करना चाहिये क्योंकि उस की क्रोधाग्नि में उस अपकार करनेवाले शिष्य की सत्क्रिया व ज्ञान लक्ष्मी शोभा आयु सम्पूर्ण पदार्थ भस्म हो जाते हैं। इस कारण कल्याण का चाहने वाला मनुष्य गुरु की आज्ञा उल्लंघन करना मन से भी न कभी विचार करै। इस विषय में भी कि गुरुदेव गुणी है व निर्गुणी कदापि ध्यान न करके आज्ञापालन ही करनी समुचित जानना चाहिये जैसा कि लिंगपुराण का वचन प्रमाण है—

सगुणो निर्गुणो वापि
तस्याज्ञां शिरसा वहेत् ।

श्रेयोऽर्थी यस्तु गुर्वाज्ञा
मनसापि न लंघयेत् ॥

गुरुदेव चाहे गुणवान् हो वा गुणरहित, परन्तु उसकी आज्ञा शिर से मानना उचित है । इस कारण अपना कल्याण चाहनेवाला पुरुष गुरुदेव की अज्ञा को मन से भी उल्लंघन न करै । सर्वथा पालन ही करना योग्य है जिससे कि सब कल्याण होता है यथा लैंगे—

गुर्वाज्ञापालकः सम्यग् ज्ञानसम्पत्तिमश्नुते ।

गुरुदेव की आज्ञा सम्यक् रीति से पालन करने वाले पुरुष ज्ञान, सम्पत्ति, सुख, आनन्द, यश, आरोग्य आदि पदार्थ के भागी होते हैं अन्यथा नाना प्रकार के क्लेशों को भोगते हुये संसार में दुर्यश के पात्र बन अन्त समय दुर्गति को प्राप्त होते हैं और इस अलभ्य लाभ मनुष्य के शरीर का स्वाद अपनी मूर्खता से खोकर बैठ जाते हैं क्योंकि यह स्वयं सिद्ध परिभाषा

है कि जो रामायण में गोस्वामि तुलसीदासजी ने प्रक्षिप्त कर रक्खा है वह यह है कि—

संग्रह त्याग न विनु पहिचाने

जिस किसी पदार्थ का गुण दोष जब तक प्रकट नहीं होता और उसका प्रभाव जाना नहीं जाता तब तक उस पदार्थ के ग्रहण करने अथवा त्याग करने में कोई मनुष्य प्रवृत्त नहीं होता और यह वार्ता भी प्रसिद्ध है कि सब प्रकार की जानकारी विद्या ही के बल से होती है कारण भी यही है कि इसका विद्या नाम इसी तात्पर्य्य से नियत किया गया है कि जिसके द्वारा प्रत्येक पदार्थ का ज्ञान हो उसका नाम विद्या है और कहां तक इसकी व्यवस्था की जावै केवल इसी विद्या के प्रभाव से ईश्वर का प्राप्त होना वेद में प्रमाण विद्यमान है। यथा श्रुतिः—

"विद्ययामृतमश्नुते"

विद्या ही से अमृत नाम कैवल्य अद्वैत ब्रह्म प्राप्त होता है। तो जब इस प्रकार की विद्या जिसे कि लौकिक पारलौकिक सम्पूर्ण कार्य परिणाम को पहुँचते हैं और नाना प्रकार के धर्म ज्ञात होते हैं व जिस का आविर्भाव गुरुदेव की प्रसन्नता से होता है उस परम कारण गुरुदेवजी को सर्वथा सर्वोपरि मानना, वन्दना आदि सत्कार करना सब प्रकार से उचित है, ऐसे गुरु-देवजी को बार बार धन्यवाद देना चाहिये कि जिसकी कृपा की हुई विद्या के द्वारा हम सब लोग शुभा-शुभ कर्मों को जानते हैं व ईश्वर के गुणानुवाद में लगते हैं, स्वामि-सेवक के भाव को वर्तते हैं। कहां तक कहैं सम्पूर्ण धर्म व्यवस्था की स्थापक वही एक गुरुदत्त विद्या ही है। इन सब कारणों से गुरुदेव का सदा काल अपने सनातनधर्म्मानुसार पूजन करना चाहिये जैसा कि मनुजी ने कहा है—

ब्रह्मारम्भेवसानेच पादौ ग्राह्यौ गुरोस्सदा ।
संहत्य हस्तावध्येयं सहि ब्रह्माञ्जलिः स्मृतः ॥

पढ़ने के आदि और अन्त में प्रति दिन शिष्य हाथ जोड़ कर गुरुदेव के चरणों को वन्दना करै और पवित्र वस्त्र पहिन कर अपनी सम्पूर्ण इन्द्रियों व मन को संयम करके नम्रता-पूर्वक गुरु के निकट विद्या-ध्ययन करै और गुरु की आज्ञा से पढ़ै व चुप रहै अर्थात् जिस समय गुरु आज्ञा देवै कि पढ़ो तो पढ़ै और जब कहै कि चुप रहो तो चुप हो जावै— और गुरुदेव प्रथम शिष्य को उपनयन होने के पश्चात् व सज्ञान होने पर श्रौतस्मार्त सदाचार धर्म व अग्निकार्य संध्या-वंदनादि सिखलावै । यथा— मनु जी ने कहा है—

उपनीय गुरुः शिष्यं शिक्षयेच्छौचमादितः ।
आचारमग्निकार्यं च संध्योपासनमेव च ॥

शौच आचमन स्नान आदि जैसा कि स्मृत्याचारों

में कहा गया है और प्रातःकाल व सायंकाल अग्नि में हवन करना व मंत्र-सहित सन्ध्योपासन विधि आदि पदार्थ शिष्य को प्रथम बतलाना चाहिये जब यज्ञोपवीत हो जावै और सज्ञान होवै। क्योंकि आचार-हीन पुरुष कोई वेद-विद्या पावन नहीं कर सकते जैसा कि देवीभागवत में प्रमाण दिया है—

आचारहीनं न पुनन्ति वेदा—
यद्यप्यधीता सहषड्भिरङ्गैः।
छन्दास्येनं मृत्युकाले त्यजन्ति
नीडं शकुन्ता इव जातपक्षाः॥

यद्यपि कोई वेदों को उनके छहों अंगो-सहित पढ़े हुये हों परन्तु आचार से हीन हो तो वे वेदपाठ उसको पवित्र नहीं कर सकते। अन्त समय में उस आचार-हीन पुरुष को इस प्रकार छोड़ देते हैं जैसे पक्षियों के जब पंख निकल आते हैं तो वे अपने घोंसले को त्याग देते हैं इस कारण आचार आदि

संध्योपासन अत्यावश्यक हैं और मनुजी ने भी कहा है कि—

दुराचारोहि पुरुषो लोके भवति निन्दितः।
दुःखभागी च सततं व्याधितोऽल्पायुरेवच॥

दुराचार करनेवाले पुरुष की लोक में निन्दा होती है और सदा काल दुःख में पड़ा रहता है। नाना प्रकार की व्याधियां घेरे रहती हैं अन्त में अल्पायु हो जाता है और मुख्य करके द्विजातियों की मृत्यु का कारण मनुस्मृति में इसी प्रकार से विदित किया गया है। यथा—

अनभ्यासेन वेदानामाचारस्य च वर्जनात्।
आलस्यादन्नदोषाच्च मृत्युर्विप्राञ्जिघांसति॥

वेदों के अभ्यास न करने के कारण व अपने आचारों के परित्याग करने से और अपने समर्थवश करने योग्य कर्मों को उत्साह-हीनता के कारण न करने से व अदनीय पदार्थों में भक्ष्याभक्ष्य न विचार

करने के दोष से विप्रों को मृत्यु हनन करता है अर्थात् इनके कहे हुये दोषों से आयुर्बल क्षीण हो जाता है। इस कारण उचित है कि शुद्ध आहार व शुद्ध आचरण से सदा काल संध्या हवन आदि कर्म गुरूपदिष्ट मार्ग से करता रहै क्योंकि कल्याण का मूल यही है। जैसे कि मनुजी कहते हैं—

श्रुतिस्मृत्युदितं सम्यङ्ग निबद्धं स्वेषु कर्मसु।
धर्ममूलन्निषेवेत सदाचारमतन्द्रितः॥
आचाराल्लभते ह्यायुराचारादीप्सिताः प्रजाः।
आचाराद्धनमक्षय्यमाचारो हन्त्यलक्षणम्॥

वेद और धर्म-शास्त्र में कहा हुआ भले लोगों का आचार सो धर्म का कारण है, उसको आलस छोड़ कर नित्य ही सेवन करना चाहिये। आयु और अच्छी सन्तति व अक्षय धन ये सब पदार्थ आचार से मिलते हैं और अशुभ फल का जनानेवाला जो देह में स्थित

कुलक्षण है उसको आचार नाश कर देता है। यथा मनुः—

सर्वलक्षणहीनोऽपि यः सदाचारवान्नरः।
श्रद्दधानोऽनसूयश्च शतं वर्षाणि जीवति ॥

जो मनुष्य सब लक्षणों से हीन है और निन्दा किसी की नहीं करता है, श्रद्धावान् होकर भलों के आचार से युक्त है वह सौ वर्ष तक जीता है और नाना प्रकार के दुःखों से छूट विविध भांति के सुखों को भोगता है। यहां पर प्रसंगवंश दुःख, सुख का लक्षण मनुजी इस प्रकार कथन करते हैं। यथा—

सर्वं परवशं दुःखं सर्वमात्मवशं सुखम्।
एतद्विद्यात्समासेन लक्षणं सुखदुःखयोः ॥

पराधीन जो कर्म है वह दुःख है और अपने वश जो कर्म है वह सुख है यह संक्षेप से सुख, दुःख का लक्षण कहा गया है। सो मनुष्यों को उचित है कि यथा-

सम्भव अपनी शक्ति भर दुखदायक कर्मों को बचाना चाहिये जैसा कि मनुजी ने कहा है—

यद्यत्परवशं कर्म तत्तद्यत्नेन वर्जयेत् ।
यद्यदात्मवशं तु स्यात्तत्तत् सेवेत यत्नतः ॥
यत्कर्म कुर्वतोस्य स्यात्परितोषोन्तरात्मनः ।
तत्प्रयत्नेन कुर्वीत विपरीतन्तु वर्जयेत् ॥

जो जो कर्म दूसरे के अधीन है उन उन कर्मों को यत्न से वर्जन करै और जो २ कर्म अपने अधीन हैं उन सबको यत्न से सेवन करै। जिस कर्म को करते हुये पुरुष के अन्तरात्मा को संतोष प्राप्त होवै वह यत्न से करना चाहिये और जिस कर्म के करने से विपरीत हो अर्थात् अपने अन्तः-करण का परितोष न होवै उसको वर्जन करना चाहिए, कदापि न करे। इस प्रकार आचारवान् होकर मानवधर्म शास्त्र के अनुसार वृद्धों व गुरुओं का मान-सत्कार आदि करना चाहिये और श्रेष्ठों के आसन, शय्या आदिक पर बैठना बचाना उचित है। जैसा कि मनुस्मृति में कहा है—

शय्यासनेऽध्याचरिते श्रेयसा न समाविशेत् ।
शय्यासनस्थश्चैवैनं प्रत्युत्थायाभिवादयेत् ॥

बड़े लोग जिस आसन पर व जिस शय्या पर बैठे हों उस पर न बैठे और आप आसन व शय्या पर बैठा हो तो उठके बड़े लोगों को प्रणाम करै क्योंकि बड़े लोगों को न प्रणाम करने से अपमान होता है और उनके अपमान से सुयश संपत्ति आदि की हानि होती है, जैसे मनु में कहा है—

ऊर्द्ध्वम्प्राणा ह्युत्क्रामन्ति यूनः स्थविर आयति ।
प्रत्युत्थानाभिवादाभ्याम्पुनस्तान्प्रतिपद्यते ॥

वय, विद्या आदि करके बड़े लोगों के आगमन करने से छोटे लोगों का प्राण ऊपर जाने की इच्छा करता है और छोटे लोग जब उठ के प्रणाम करते हैं तब उस प्राण को पाते हैं और इस के व्यतिरिक्त और भी बहुत लाभ मनुजी ने कहे हैं। यथा—

अभिवादनशीलस्य नित्यं वृद्धोपसेविनः ।
चत्वारि तस्य वर्द्धन्ते, आयुर्विद्यायशो बलम् ॥

जो मनुष्य बड़े लोगों को नित्य प्रणाम करता है और सेवा-परायण रहता है उसके ये चारों पदार्थ आयु, विद्या, यश, बल बढ़ते हैं। इससे अवश्यमेव इन पर आरूढ़ रहना और गुरुदेव की आज्ञा पालन करना चाहिये। परन्तु दो बातों में गुरुदेव की आज्ञा अपेक्षित नहीं है वह मानवधर्मशास्त्र में विद्यमान है । यथा—

चोदितो गुरुणा नित्यमप्रचोदित एव वा ।
कुर्य्यादध्ययने यत्नमाचार्यस्य हितेषु च ॥

गुरुदेव की आज्ञा हो अथवा न हो परन्तु विद्या पढ़ने और गुरु के हित कर्म आचरण में यत्न करे अर्थात् प्रति दिन स्वाध्याय में पढ़ने के अर्थ पाठशाला में आने का उद्योग स्वयं करते रहना चाहिये ।

शरीरं चैव वाचं च बुद्धीन्द्रियमनांसि च ।
नियम्य प्राञ्जलिस्तिष्ठेद्वीक्षमाणो गुरोर्मुखम् ॥

गुरु के मुख को देखता हुआ शरीर, वाणी, बुद्धि, इन्द्रिय, मन इन सबको वश में करके हाथ जोड़े खड़ा रहै, बिना गुरुदेव की आज्ञा बैठे नहीं।

नित्यमुद्धृतपाणिः स्यात्साध्वाचारः सुसंयतः।
आस्यतामिति चोक्तः सन्नासीताभिमुखं गुरोः॥
हीनान्नवस्त्रवेषः स्यात्सर्वदा गुरुसन्निधौ।
उत्तिष्ठेत्प्रथमं चास्य चरमं चैव संविशेत्॥

ओढ़ने का जो वस्त्र है उसके बाहर दक्षिण हस्त को नित्य ही किये रहै और शोभन आचारयुत वस्त्रावृत सत् शिष्य गुरुदेव की आज्ञा पाकर चंचलता को छोड़ शान्त-चित्त हो उनके सम्मुख बैठे और सर्वदा गुरुदेव के समीप उसकी अपेक्षा अवकृष्ट अन्न वस्त्रादि का प्रसाधन करै अर्थात् गुरुदेव के स्वरूप से अपना स्वरूप कुछ निकृष्ट बनाये रहै और गुरुदेव के उठने से प्रथम आप उठे और बैठने अथवा सोने के पश्चात् शिष्य भाव में स्थित पुरुष बैठे व शयन विश्राम करै और

जिस समय गुरुदेव शिष्य से कुछ कहते हों व शिष्य गुरुदेव से कुछ प्रार्थना करै उस समय इन बातों का विचार रखना चाहिये जो कि मनुजी ने कहा है। वह यह है—

प्रतिश्रवणसंभाषे शयानो न समाचरेत् ।
नासीनो न च भुञ्जानो न तिष्ठन्न पराङ्मुखः ॥

सोता, आसन पर बैठा, भोजन करता और विमुख अर्थात् मुख फेरे हुये गुरुदेव से बात चीत नहीं करे किन्तु ऐसा करना चाहिये। यथा मनुः—

आसीनस्य स्थितः कुर्य्यादभिगच्छँस्तु तिष्ठतः।
प्रत्युद्गम्यत्वा व्रजतः पश्चाद्धावंस्तु धावतः ॥
पराङ्मुखस्याभिमुखो दूरस्थस्यैत्य चान्तिकम् ।
प्रणम्य तु शयानस्य निदेशे चैव तिष्ठतः ॥

गुरुदेव बैठे हों तो आप खड़ा होकर बोलै और उनकी बात को सुनै और गुरु खड़े हों तो आप डोलता हुआ बात चीत करै और गुरु डोलते हों तो

उनके सम्मुख जाकर बोलै और बात को सुनै, जो गुरुदेवजी दौड़ते हों तो आप उनके पीछे दौड़ कर बोले और बात को सुनै और जो गुरु मुख फेरे हुये बैठे हों या खड़े हों तो उनके सम्मुख जाकर बात चीत करै और सुनै और दूर हों तो समीप जाकर और शयन करते हों तो प्रणाम कर आज्ञा को सुनै और विनीत होकर आचरण करै और गुरु के समीप में स्थित शिष्य को नीचे कही हुई बातों पर ध्यान रखना चाहिये—

नीचं शय्यासनं चास्य सर्वदा गुरुसन्निधौ ।
गुरोस्तु चक्षुर्विषये न यथेष्टासनो भवेत् ॥
नोदाहरेदस्य नाम परोक्षमपि केवलम् ।
न चैवास्यानुकुर्वीत गतिं भाषितचेष्टितम् ॥

गुरु के समीप में शय्या, आसन अपना नीचे रक्खे और गुरु के देखते हुये जैसा चाहै वैसा आसन करके न रहै अर्थात् चरणादिक फैलाना या टेढ़ा

मेढा होकर बैठना, अंग तोड़ना आदि असभ्य चेष्टाओं को न आचरण करै—और गुरु के परोक्ष अर्थात् उनके अनुपस्थित रहने पर भी गुरुदेव का केवल नाम मात्र न उच्चारण करै अर्थात् उपाध्याय, आचार्य्य, मास्टर आदि उपनाम संयुक्त गुरुदेव का नाम ग्रहण करै और गुरु की चाल ढाल बोली व उनकी चेष्टा का अनुकरण न करना चाहिये। और गुरुदेव के साथ नीचे लिखे हुए स्थानों पर बैठना मानवशास्त्र में दोष नहीं कहा गया है वह प्रमाण यह है। यथा मनुः—

गोश्वोष्ट्रयानप्रासादस्रस्तरेषु कटेषु च ॥
आसीत गुरुणा सार्द्धं शिलाफलकनौषु च ।

बैल, घोड़ा, ऊंट इन करके युक्त जो यान अर्थात् रथ, गाड़ी आदि तिस पर और अटारी, चटाई, पत्थर, काठ, नौका इन सबों पर गुरु के साथ बैठे, और गुरु

देव की बुराई कभी किसी दशा में कहना सुनना सर्वथा निषिद्ध है जैसा कि मनुजी ने कहा है—

गुरोर्यत्र परीवादो निन्दा वापि प्रवर्तते ।
कर्णौ तत्र पिधातव्यौ गन्तव्यं वा ततोऽन्यतः ॥

जहां पर गुरु का सच्चा या झूठा दोष कहा जाता हो वा निन्दा होती हो तो वहां कान मूंद लेना या वहां से उठ जाना चाहिये। जो दोष किसी मनुष्य में विद्यमान हो और उस को कोई कथन करै तो वह परीवाद कहलाता है और जो दोष जिस में न हो परन्तु मत्सरता से उस दोष को उस में आरोपण करना निन्दा कहलाता है यह दोनों बातैं सज्जनों को सदैव बचाना चाहिये, और गुरु के गुरु में भी गुरु की नाईं आचरण करना चाहिये। जब वह सन्निकट में हों और आचार्य अथवा विद्या-गुरु के बराबर और गुरु लोगों का भी मान आदर करना योग्य है अर्थात् माता, पिता, उपाध्याय आदि श्रेष्ठ लोगों के साथ यही व्यवहार करना

चाहिये। जो मनुष्य अपने गुरुदेव की आज्ञा श्रद्धा, भक्ति-समन्वित मानता है और शुभ आचरणों से चलता है उस का सब प्रकार से कल्याण होता है और दोनों लोकों में सुख आनन्द भोगता है।

आचार्य्यो ब्राह्मणो मूर्त्तिः पिता मूर्त्तिः प्रजापतेः।
माता पृथिव्या मूर्त्तिस्तु भ्राता स्वोमूर्त्तिरात्मनः॥
आचार्य्यश्च पिता चैव माता भ्राता च पूर्वजः।
नार्तेनाप्यवमन्तव्या ब्राह्मणेन विशेषतः॥

आचार्य्य परमात्मा की मूर्त्ति है, पिता ब्रह्मा की मूर्त्ति है और माता पृथिवी की मूर्त्ति है व सहोदर जेठा भाई देवता रूप है इस से इन सब का अपमान न करना चाहिये। आचार्य्य, पिता, माता, जेठ भाई इन सबों का अपमान किसी अवस्था में न करना चाहिये चाहे आप दुःखित भी हो परन्तु विशेष करके ब्राह्मणों को यह बात ध्यान रखना चाहिये क्योंकि इन की

प्रसन्नता से सब कार्य लौकिक पारलौकिक सिद्धि को प्राप्त होते हैं। यथाह मनुः—

यं मातापितरौ क्लेशं सहेते संभवे नृणाम्।
न तस्य निष्कृतिः शक्या कर्तुं वर्षशतैरपि॥

मनुष्य के उत्पत्ति समय में जो क्लेश माता-पिता सहते हैं उस क्लेश से उत्तीर्ण सौ जन्म के उपकार से भी नहीं हो सकता इस लिये ये सब देवता रूप हैं, इन का अपमान न करना चाहिये इनकी प्रसन्नता से कुशल होता है। यथा—

तयोर्नित्यं प्रियं कुर्य्यादाचार्य्यस्य च सर्वदा।
तेष्वेव त्रिषु तुष्टेषु तपः सर्वं समाप्यते॥
तेषां त्रयाणां शुश्रूषां परमं तप उच्यते।
न तैरभ्यननुज्ञाते धर्ममन्यं समाचरेत्॥

माता, पिता, आचार्य्य इन तीनों का प्रिय नित्यही करना चाहिये क्योंकि इन तीनों के सन्तुष्ट होने से सब तपस्या समाप्त होती है और इन्हीं तीनों की सेवा

परम तप है, बिना इनकी आज्ञा कोई दूसरा धर्म न करना चाहिये। यह प्रमाण है—

त्रिष्वप्रमाद्यन्नेतेषु त्रींल्लोकान्विजयेद् गृही।
दीप्यमानः स्ववपुषा देववद्दिवि मोदते॥
सर्वे तस्यादृता धर्मा यस्यैते त्रय आदृताः।
अनादृतास्तु यस्यैते सर्वास्तस्याफलाः क्रियाः॥

इन तीनों अर्थात् माता, पिता, आचार्य्य के विषय में जो प्रमाद नहीं करता—सावधानता से रहता है वह तीनों लोको को जीतता है—बड़ा तेजस्वी होकर देवतों की नाईं स्वर्ग में आनन्द करता है। जिस मनुष्य ने इन तीनों का आदर किया उसके सब धर्म आदर को पा चुके और जिसने इन तीनों का आदर नहीं किया उसकी सब क्रिया निष्फल हो जाती हैं। मनुजी ने तो इनके समान दूसरा धर्म उत्तम कहा ही नहीं जैसा कि प्रमाण है—

यावत्त्रयस्ते जीवेयुस्तावन्नान्यं समाचरेत् ।
तेष्वेव नित्यं शुश्रूषां कुर्य्यात्प्रियहिते रतः ॥
त्रिष्वेतेष्विति कृत्यं हि पुरुषस्य समाप्यते ।
एष धर्मः परः साक्षादुपधर्मोन्य उच्यते ॥

जब तक यह तीनों जीते रहें तब तक स्वतन्त्र होकर कभी दूसरा धर्म न करै। उन्हीं की सेवा और हित प्रिय का आचरण करै क्योंकि इन्हीं तीनों की सेवा करने से सम्पूर्ण श्रौत स्मार्त धर्मों का अनुष्ठान हो जाता है और यही साक्षाद्धर्म्म है अन्य और सब उपधर्म हैं। इस प्रकार जब तक विद्या पढ़ने का समय है तब तक गुरु के साथ उपकार करना एक सेवाही मुख्य है। जब विद्या पढ़ चुके (जिस का मुख्य काल छत्तीस वर्ष वा अठारह वर्ष वा निकृष्ट पक्ष में नव वर्ष है) तब समावर्तन के निमित्त गृहस्थ आश्रम में जाने की इच्छा से यथा शक्ति आचार्य्य को गुरु दक्षिणा दे उन की प्रसन्नता से आज्ञा लेकर अपने

कुल में आकर शास्त्रोक्त विधि से उद्वाह कर गृहस्थ धर्म में परायण हो और यदि गृहस्थ धर्म में आना स्वीकार न हो तो सदाकाल नैष्ठिक ब्रह्मचर्य्य व्रत धारण कर जीवन व्यतीत कर देवै और अन्त समय ब्रह्म पद को प्राप्त हो जावै और मनुष्य का यह भी धर्म है कि गृहस्था-श्रम में आने पर भी गुरुदेव व उन के अभाव में उन के पुत्र स्त्री आदि का मान सत्कार करता रहै इस प्रकार करने से संसार में सुख, सम्पत्ति, यश, आनन्द प्राप्त रहता है और परलोक में निवाह होता है। अब कुछ दो एक ऐसे प्राचीन इतिहास भारत आदि पुराणों के दिये जाते हैं जिन से स्पष्ट रीति से ज्ञात हो जावैगा कि हमारे प्राचीन भारतनिवासी जन किस प्रकार माता, पिता, व आचार्य्य आदि गुरुजनों के भक्त व आज्ञाकारी होते थे, जिस को प्रायः अब नवीन शिक्षित विद्यार्थियों के समुदाय में लोग कम जानते हैं वा और ही कुतर्क की दृष्टि से देखते हैं।

प्राचीनकाल में धौम्य मुनि के पास तीन शिष्य रहते थे, जिन के नाम वेद, अरुणि, उपमन्यु थे। उन में एक दिन महात्मा धौम्य ने अरुणि से कहा कि आज अच्छी वृष्टि हुई है, तुम धान के खेत की मेंड़ अच्छे प्रकार जाकर बांध आवो जिस से पानी खेत से बाहर न निकल जावै। ऐसी गुरु-आज्ञा मान अरुणि शीघ्र खेत की ओर चला और वहां जाकर उस की मेंडों को बांधने लगा, जब सब मेंड़ें ठीक होगईं तो एक स्थान पर पानी के बहाव के कारण मेंड़ न रुक सकी, अन्त में अरुणि स्वयं विवश होकर मेंड़ बन के लेट गया और पानी को रोके रहा। जब कुछ समय व्यतीत हुआ और अरुणि को न देखा तो गुरुदेवजी ने उपमन्यु से पूंछा कि अरुणि क्या हो गया? तब उपमन्यु ने कहा कि महाराज! वह जब से खेत की मेंड़ बाँधने गया है तब से लौट कर अभी नहीं आया। इस बात के सुनने से मुनि को बड़ा शोच हुआ और खेत के

निकट आकर अरुणि का नाम ले ले पुकारने लगे, तब गुरुदेव का वचन सुन कर शीघ्र अरुणि उठ आया और सम्पूर्ण शरीर में कर्दम लगी हुई थी बड़ी नम्रता से श्रद्धासंयुक्त प्रणाम किया और अपना सारा वृत्तान्त निवेदन किया। ऐसा दुष्कर कर्म करने में आज्ञापालन करने से मुनिजी बहुत प्रसन्न हुये और अरुणि को आशीर्वाद दिया कि तुम को सब वेदशास्त्र प्राप्त हो जावैं, अब तुम अपने गृह को जाओ, मैं तुम से बहुत ही प्रसन्न हुआ हूँ। इस प्रकार गुरु के आशीर्वाद से अरुणि को सब विद्या प्राप्त होगई जैसे कोई पुरुष सोता हो और जाग पड़े तब उसको सम्पूर्ण पदार्थ दिखाई देने लगैं और गुरुदेव को फिर विनय प्रणाम कर अपनी जन्मभूमि पञ्जाब को चले गये और वहां सुशोभित हुये—इसके उपरान्त धौम्य मुनि ने उपमन्यु को कहा कि तुम गौओं व बछरों को चराया करो इस बात को सुनकर उपमन्यु बड़ी

श्रद्धा-भक्ति-सहित गौओं को चराने लगे। एक दिन गुरुदेवजी ने उपमन्यु से पूछा कि तुम्हारी जीवन-वृत्ति क्या है जिससे तुम ऐसे स्थूल शरीर बने हो। यह सुन उपमन्यु ने कहा कि महाराज! नगर से भिक्षा मांगकर लाता हूँ और वही भोजन करता हूँ। तब मुनिजी ने कहा कि जो भिक्षा मांगकर लाते हो वह हमारे यहां रख दिया करो, बिना हमारी आज्ञा उसको भोजन न करो। उपमन्यु ने कहा महाराज! अब ऐसा ही करूँगा। तब से सारी भिक्षा माँगकर उपमन्यु धौम्य मुनि के सम्मुख रख दिया करैं। न तो मुनिजी भोजन करने की उनको आज्ञा देवैं और न वह बिना आज्ञा भोजन करैं, भिक्षा रखकर चले जावैं और दूसरी भिक्षा नगर से मांग खाया करैं। मुनिजी ने उपमन्यु को वैसा ही स्थूल देखकर एक दिन फिर पूछा कि अब तो तुम्हारी सारी भिक्षा हम लेलेते हैं और उसमें से तुमको कुछ देते नहीं, भला

बताओ तो अब तुम क्या खाते हो जो वैसे ही मोटे बने हो! उपमन्यु ने सत्यता से कह दिया कि महाराज! प्रथम भिक्षा आप के निकट रख जाता हूं और दूसरी भिक्षा नगर से मांगकर खाता हूं और वन में गौवों को जाकर चराता हूं। तब धौम्य मुनि ने कहा कि तुम को इस अन्याय-वृत्ति से लज्जित हो जाना चाहिये और अब आज से दूसरी बार भिक्षा न मांगनी चाहिये। उपमन्यु ने प्रीतिपूर्वक गुरु की इस आज्ञा को भी स्वीकार किया और वन में गौओं को चराने लगे। एक दिन धौम्य मुनि ने वन में जाकर उपमन्यु को गौओं के दूध पीने से रोक दिया, तत्पश्चात् फिर धौम्य मुनि ने उपमन्यु से पूछा कि अब तो भला तुम अपनी जीविका बतलावो। उपमन्यु ने निवेदन किया कि दया-निधान बछड़ों के पयपान करते समय उन के मुख से जो फेन निकलता है वही मेरा आधार है। यह सुन कर परीक्षा-निमित्त उस से भी उस को रोक दिया, तब

उपमन्यु क्षुधा से पीड़ित होकर अर्क-पत्र खाने लगे, जिस के प्रभाव से अन्ध-लोचन होकर कूप में गिर पड़े और सन्ध्या समय गौओं के साथ गुरुदेव के आश्रम पर न गये, तब धौम्य मुनि ने इस विचार से कि हम ने उपमन्यु की सब जीविका रोक दी है, इसी कारण क्षुधार्त होकर वह वन में कहीं पड़ा रह गया और क्रोधित हो गया है, अपने साथ शिष्यों को लेकर वन में जा उपमन्यु का नाम ले ले टेरने लगे। जब उपमन्यु कूप में से बोले कि महाराज ! मैं तो कूप में लोचनान्ध होकर गिरा पड़ा हूं, कारण यह कि क्षुधा से पीड़ित होकर अर्कपत्र खाया था जिस से चक्षु-हीन हो गया। यह सब दुख अब आप की कृपा से दूर होवैगा। इतना सुनकर धौम्य मुनि के हृदय में करुणा आई और कहा कि तुम दस्र का स्तोत्र-पाठ करो, तुम्हारे नयन नवीन हो जावैंगे और वह श्रुति की ऋचा भी उस को बतला दी जिस को पाकर

उपमन्यु गुरुदेव की आज्ञानुसार उस स्तोत्र को जपने लगे, जिस के प्रभाव से दस्रदेव प्रसन्न होकर सानन्द-रूप उपमन्यु के समीप आये और उत्तम पूप देकर कहा कि तुम इस को भोजन करो, यह सुनकर उपमन्यु ने कहा कि विना गुरुदेव की आज्ञा हम इस को भोजन नहीं कर सकते। जब इस प्रकार दृढ़ गुरु-भक्ति उपमन्यु की दस्रदेव ने देखी तो अत्यन्त प्रसन्न हुये और यह वर दिया कि तुम्हारे नेत्र दिव्य हो जावैं और सत्वगुण ज्ञान को प्राप्त होकर सर्वशास्त्र श्रुति-स्मृति का पूर्ण बोध तुम को प्राप्त होवै। इतना कह कर दस्रदेव अपने धाम को सिधारे और उपमन्यु दिव्य नेत्र व वेद-विद्या को प्राप्त होकर श्रद्धाभक्ति-समन्वित अपने गुरु के आश्रम पर आये और चरणों की वन्दना कर धौम्य मुनि से अपना सारा वृत्तान्त कह सुनाया जिसको सुनकर मुनिजी बहुत प्रसन्न हुये और उप-मन्यु की दृढ़ गुरुभक्ति देखकर सानन्द वर व आशी-

र्वाद देकर घर को बिदा किया और इसी प्रकार तीसरे शिष्य वेद को भी उसकी निष्कपट सेवा व भक्ति देख प्रसन्न होकर एक दिन वरदान देदिया कि तुम सर्वज्ञ होजावो और अब आनन्द-सहित अपने गृह को जावो, फिर क्या बात थी, तत्क्षण उसको सम्पूर्ण वेद-विद्या स्फुरित होगई और बड़ी नम्रता से गुरु दक्षिणा देने के पश्चात् जिसके निमित्त कि फिर कुछ समय तक उनको गुरुदेवजी के निकट रहना पड़ा था अपने स्थान को गये और यश, सम्पत्ति आदि सुख-सामग्री भोग किये। इसी प्रकार अनेकों इतिहास गुरुभक्ति के पुराणों में विद्यमान हैं, इस कारण बालकों को उचित है कि निष्कपट छल क्षुद्र छोड़कर यश, विद्या, प्राप्ति के अर्थ गुरु की सेवा करे क्योंकि बिना इसके कभी किसी को लाभ नहीं हो सकता, जब कि हमारे साक्षात् नारायण के अंश से उत्पन्न लीला-विग्रहधारी कृष्णचद्र भगवान् ने इन्हीं धर्म

मर्य्यादाओं के रक्षण करने के निमित्त अनेकों क्लेश सहकर उज्जयिनी पुरी में सान्दीपिनि महाराज के यहां सुदामा आदि दीनजनों के साथ विद्या अध्ययन किया है तो इतरों को तो अवश्यमेव अपने प्राचीन सत्पुरुषों की चाल पर चलना चाहिये जिसमें सब प्रकार से उनका कल्याण होवै ।

अब कुछ इतिहास पितृभक्तों का भी लिखना आवश्यक है जिससे आधुनिक लोगों को अपने सनातन धर्म का अनुचिन्तन हो जावै कि पूर्वकाल में हमारे इसी भारतवर्ष के लोग केवल पितृभक्ति के प्रभाव से कैसे २ उत्तम यश, ऐश्वर्य्य आदि को प्राप्त हो चुके हैं जिसकी ओर प्रायः आज कल बालकों का चित्त कम जाता है, किञ्चित् मात्र माता-पिता की विहित भर्त्सनाओं को नहीं सह सकते, रुष्ट हो जाते हैं और कभी २ उनका अपमान भी कर बैठते हैं, जो उनके अयश आदि दुखों का कारण है जैसा कि

गुरु व्यवहार के पूर्व कथित वाक्यों से विदित होता है।

पूर्वकाल में वेद-विदित एक राजा ययाति नाम के सोमवंश में उत्पन्न हुये हैं जिनकी राजधानी प्रतिष्ठान-पुर है जो अब झूंसी के नाम से विख्यात है, उनके पांच पुत्र थे नाम उनके यह हैं—

यदु, तुर्वसु, द्रह्यु, अनु, पुरु। जब राजा ययाति राज्य करते हुए वृद्धावस्था को प्रात हुए और विषय-भोग की तृष्णा जीर्ण न हुई तो एक दिन उन्होंने अपने ज्येष्ठ पुत्र यदु से कहा कि पुत्र वही है जो अपने पिता की आज्ञा मानें और उसके हित आचरण करे। सो इस समय मुझ को युवा अवस्था की आवश्यकता है क्योंकि मेरा चित्त विषय-भोग से अभी सन्तुष्ट नहीं हुआ। यद्यपि कई हज़ार वर्ष राज-भोग भोगते व्यतीत हो गये परन्तु मुझ को कुछ भी न जान पड़ा, इस कारण तुम अपनी

युवा अवस्था मुझे दे दो और हमारी वृद्धा अवस्था तुम ले लो। फिर कुछ समय के अनंतर जब हम तृप्त हो जाँयगे तो तुम्हारी युवा अवस्था तुम को दे देंगे और अपनी वृद्धा अवस्था हम ले लेंगे। इस बात पर यदु ने न माना, यद्यपि महाराज ययाति ने यहाँ तक कहा कि जो तुम हमारा कहना नहीं मानते हो तो राज्य के अधिकारी भी तुम न रहोगे। यदु ने राज्य न लेना स्वीकार कर लिया परन्तु युवा अवस्था देना न उचित समझा। इसी प्रकार ययाति ने तुर्वसु, अनु, द्रह्यु से भी क्रम क्रम से कहा परन्तु इस बात पर कोई आरूढ़ न हुआ तब अपने इन चारों पुत्रों को राज्य का अनधिकारी बनाकर महाराज ययाति ने अपने छोटे पुत्र पुरु से कहा कि पुत्र! तुम अपनी युवा अवस्था हमको देदो और राज्य के अधिकारी होवो, हमारे आशीर्वाद से तुम को न तो किसी प्रकार का दोष होगा और न संसार में दुर्यश। किन्तु सुख, सम्पत्ति, राज्य, सुयश आदि के

भागी होगे। पुरु ने कहा मैं सानन्द भक्तिपूर्वक अपनी युवा अवस्था आप को देता हूँ और आपकी वृद्धा अवस्था मैं स्वीकार करता हूँ। इस प्रकार पुरु की युवा अवस्था लेकर राजा ययाति बहुत काल विषय-भोग करते रहे। अन्त में उन को ज्ञान हुआ और ययाति ने गीता गा कर अपनी वृद्धा अवस्था पुरु से ले ली और उन को उन की युवा अवस्था व राज्य दोनों देकर तप करने के निमित्त आप वन को चले गये। पुरु उसी पितृभक्ति के प्रभाव से संसार में यश के भागी होकर राज्यादिक सुख-भोग करते रहे—

दूसरा इतिहास पितृभक्ति पर अब इस प्रकार कहा जाता है जिसमें पतिव्रता स्त्री का भी इतिहास संयुक्त है, जो मार्कण्डेय मुनि ने राजा युधिष्ठिर से कहा है। वह यह है कि प्रथम स्त्री सन्तान के निमित्त अनेकों प्रकार के यंत्र मंत्र टोटकादि, औषधि, तीर्थ, व्रत, पूजा-पाठ, देव-वंदन आदि दुष्कर कर्म करती हैं।

और उत्पन्न होने पर माता-पिता सब प्रकार से यथा सम्भव पुत्र का रक्षण, पालन-पोषण करते हैं और उसके भाग्योदय का चिंतन करते हैं। इस प्रकार जो धर्म्मात्मा पुत्र होता है वह अपने माता-पिता के उन सब क्लेशों को जिनको कि स्वीकार करके उसके माता-पिता ने उसको पालन किया है स्मरण करके अपने देव-स्वरूप माता-पिता को तोषित करता है क्योंकि पुत्र का परम धर्म माता-पिता का पोषण करना और स्त्री का परम धर्म्म पति-सेवा है जिसके बराबर न कोई यज्ञ है न दानादि। इसी पर यह इतिहास इस प्रकार कहा जाता है कि तप-व्रत में आरूढ़ कौशिक मुनि एक दिन किसी वन में एक वृक्ष के तले बैठ वेदाध्ययन कर रहे थे और उसी वृक्ष के ऊपर एक बलाका पक्षी बैठा था जिसने मुनि के ऊपर बीट कर दी तब क्रोध की दृष्टि से मुनि ने उसकी ओर देखा, वह तुरन्त भस्म होकर पृथ्वी-तल पर गिर पड़ा। तब

मुनिजी को प्रथम तो कुछ शोच हुआ पीछे अपने तपोबल को जानकर अभिमान में आगये। उसके पीछे भिक्षा मागने के अर्थ ग्राम में गये और एक पतिव्रता स्त्री के द्वार पर खड़े होकर भिक्षा के अर्थ टेरा, वह स्त्री बोली कि मैं बर्तन धोरही हूँ, हाथ धोकर भिक्षा लिये हुये आती हूँ, आप खड़े रहिये। इतने में उसका पति क्षुधार्त कहीं से आगया और अपनी स्त्री से कहा कि मुझको भोजन दो, मैं क्षुधित हूँ। पति का ऐसा वचन सुन वह पतिव्रता स्त्री उसकी सेवा में लग गई और मुनि को भिक्षा देना विस्मरण होगया। प्रथम तो उसने पाद्य, आचमन कराया, उत्तम आसन पति को बैठने के निमित्त दिया, फिर उत्तम २ श्रद्धा से रचित मधुर व्यञ्जन भोजन कराया और उच्छिष्ट सुखपूर्वक आप प्रसाद पागई व पति को देव समान जान सारा व्यवहार किया। इसी प्रकार वह सदा काल अपने पति की शुश्रूषा में वृत्ति अनुसार लगी रहती और देवता,

अतिथि, सासु, ससुर, मान्य जनों को तोषित रखती थी। इसी प्रकार नियमपूर्वक जब अपने पति की सेवा से सावकाश पाया तो विप्रजी के अर्थ भिक्षा लेकर गृह के बाहर निकली और भिक्षुक रूप कौशिक मुनि को भिक्षा देने लगी। तब मुनि ने क्रोधित होकर कहा कि हमको कितना समय यहां खड़े हुये व्यतीत हुआ और तुम अब भिक्षा लेकर निकली हो! स्त्री ने शान्ति-पूर्वक मुनि से विनीत होकर कहा कि महाराज मेरा पति क्षुधार्त आया था उसको भोजन देने लगी थी, क्योंकि मैं पति ही को परमदेव जानती हूँ। आप क्षमा कीजिये। इतना स्त्री के मुख से सुन कर कौशिकजी बड़े क्रोध से उसकी ओर देखने लगे, और कहा कि तुम ब्राह्मण गुरु से अधिक पति में महत्त्व आरोपण करती हो और अपने गृह-कार्य करने के निमित्त ब्राह्मण का अपमान करती हो। जिस ब्राह्मण से इन्द्रादिक देवता डरते हैं और मनुष्य की क्या शक्ति है जो ऐसे

ब्राह्मण के क्रोध को, जो क्षण भर में सारी पृथ्वी को भस्म कर सकता है, वृद्धों से कभी तुम ने नहीं सुना। मुनि को ऐसा क्रोध-युक्त वचन कहते सुन उस पतिव्रता स्त्री ने कहा कि हे विप्र ! मैं ब्राह्मणों के क्रोध का प्रभाव बहुत सुन जान चुकी हूं, समुद्र को पान कर अपेय बना दिया और वातापी प्रबल असुर को अपने उदर में पचाय डाला, इत्यादि बहुत है। परन्तु मैं वन की बलाका नहीं हूं कि आप आंख से देखकर मुझ को भस्म कर डालेंगे। मैं पतिव्रता स्त्री हूं, देवतन में श्रेष्ठ देव अपने पति ही को जानती हूं। जिन की सेवा के प्रभाव से आप का सारा चरित बलाका भस्म होने आदि का जानती हूं। हे विप्रवर ! मनुष्य के शरीर में क्रोध एक बड़ा भारी शत्रु है, जिस क्रोध मोह के विनाश भये पर ब्राह्मण देव समान हो जाता है, न तो असत्य बोलता है, न जीवों को पीड़ा देता है। शुद्ध जितेन्द्रिय धर्म पर आरूढ़ रह वेदाध्ययन

करता है और गुरु लोगों को तोषित रखता है। काम क्रोध जीते हुये अपने आत्मा के सदृश लोक को जानता है और षट् कर्म (अर्थात् पढ़ना पढ़ाना, दान देना वा लेना, यज्ञ करना, यज्ञ कराना) करता है जिस से नियमित धर्म पर आरूढ़ रह ब्राह्मण देवता की समता लहता है। हे विप्रवर ! धर्म में परम प्रमाण श्रुति ही है यद्यपि आप धर्म व्यवस्था जानते हैं परन्तु धर्म की बड़ी सूक्ष्म गति है जिसमें बड़ बड़े लोग मोह को प्राप्त हो जाते हैं। उस तत्त्वार्थ को मिथिला में जाकर धर्मनामक व्याध से जो माता-पिता का भक्त है पूंछिये और शेष संशय दूर कीजिये। यदि आप की इच्छा विशेष धर्म जानने की है और मेरे अनुचित वचनों को जो आप के प्रतिकूल हुये हों, क्षमा कीजियेगा। इतना सुन कौशिक मुनि बोले कि मेरा क्रोध दूर हो गया, मैं प्रसन्न हूं और तुम्हारे कथनानुसार धर्म-व्याध के पास मिथिलापुर जाता हूँ।

इतना कह उस पतिव्रता स्त्री की प्रशंसा कर मिथिला-पुर को चले। जब वहां पहुँचे तो किसी ने पूछने से धर्म-व्याध का स्थान बतला दिया। कौशिक ने वहां जाकर देखा तो वह व्याध पशुवध कर रहा है, मुनि घृणा से एकान्त में किसी किनारे खड़े हो गये। तब धर्म-व्याध ने कहा कि विप्रवर! मैं आप को प्रणाम करता हूँ और आप के आगमन का धन्यवाद देता हूँ। मैं धर्म नामक आप का किंकर हूँ, जो कार्य हो आज्ञा कीजिये। आप को उस पतिव्रता स्त्री ने मेरे पास जिस कारण आने को कहा है मैं सब जानता हूँ। कौशिक मुनि ने इस व्याध के वचन से विस्मय को प्राप्त होकर उसी पतिव्रता स्त्री की भांति इस व्याध को भी त्रिकालज्ञ जाना और व्याध के कहने से कौशिक जी उस के बैठक स्थान पर गये और मन में उसकी अद्भुत शक्ति का स्मरण करने लगे और व्याध से पाद्य, आचमन, आसन से सत्कार पाकर

विविध प्रकार के धर्म पूछे और श्रवण किये तत्पश्चात् कौशिक मुनि ने कहा कि यह कर्म जो आप का दिखाई देता है यह आप के अयोग्य है। तब व्याध ने कौशिक मुनि की सम्पूर्ण शंकाओं को मिटाकर पितृभक्ति उनको गरिष्ठ करादिया और बड़ी प्रसन्नता से पितृ-शुश्रूषा स्वीकार करके अपने स्थान को गये और यश-भागी हुये, इस प्रकार अनेकों पितृभक्ति के इतिहास पुराणों में विद्यमान हैं सर्वोपरि परम प्रमाण तो इसके मर्य्यादा-पुरुषोत्तम, भूप-शिरोमणि, साक्षान्नारायणांश रामचन्द्रजी हैं, कि सर्वथा निर्दोष केवल पितृ-आज्ञा पालन-निमित्त वनवास का असह्य दुख चौदह वर्ष तक स्वीकार किया है, इससे हे बालको! यदि तुम लोग अपना कुशल व यश, आनन्द संसार में चाहते हो तो पितृ-शुश्रूषा ही को अपना परम धर्म समझो और अपने सनातन धर्म की सीमा रक्खो।

मातृ-भक्ति पर भी बहुत सी प्राचीन कथायें

पुराण, इतिहासों में प्रसिद्ध हैं उनसे प्रधान भ्रातृ-स्नेह लक्ष्मण जी का रामचन्द्र जी के साथ व भरत जी का भी उन्हीं रामचन्द्र से ज्येष्ठ होने के कारण इतिहासों, पुराणों व मुख्य कर वाल्मीकीय रामायण से विदित है कि जिस भ्रातृ-भक्ति के निमित्त लक्ष्मण जी ने अपना सारा भोगविलास, सुख की सामग्री स्त्री-सहित त्याग कर रामचन्द्रजी के साथ वन में चौदह वर्ष तक असह्य दुःखों को सहा परन्तु स्नेह छोड़ना स्वीकार नहीं किया। और भरत जी जिनको उनकी माता कैकेयी के प्रसाद से राज्य मिल गया था परन्तु भ्रातृ-भक्ति में वह ऐसे मग्न हो गये थे कि उनको राज-काज कुछ भी नहीं सुहाता था, प्रथम तो उन्होंने रामचन्द्रजी को लौटाने का उद्योग किया परन्तु जब वह नहीं लौटे तो आप स्वयं भरत जी भी अयोध्या में राजगद्दी पर नहीं बैठे किन्तु अपने ज्येष्ठ भाई रामचन्द्रजी के वियोगाग्नि से अपना

शरीर यहां तक कृश कर डाला कि अस्थिमात्र रह गया था। जब कि रामचन्द्र वनवास से चौदहवें वर्ष में लौटे हैं तब उनके दर्शन मिलने से फिर उनको आनन्द हुआ है। हे बालको ! इसी प्रकार तुम सबको भी चाहिये कि अपने धर्म-शास्त्र की आज्ञा मानो और अपने भ्रातृ-स्नेह से संसार के सब सुख, सुयशों को भोगो और अन्य जो तुम से बड़े हों उन सबको भी गुरु के बराबर मान, सत्कार करो और अपने पूर्वजों की चाल पर चलो। और अन्य स्त्रीगण जो माता के बराबर पूज्य हैं और माननीय हैं। यह जो मनुजी ने अपने निबन्ध में निबन्धित किया। यथा—

मातृष्वसा मातुलानी श्वश्रूरथ पितृष्वसा ।
सम्पूज्या गुरुपत्नीवत्समस्ता गुरुभार्यया ॥

मौसी, मामी, सासु, फूफू, ये सब गुरु की स्त्री के सम पूज्य हैं, इस कारण गुरु-भार्या के बराबर इन का

सब का पूजन, मान, सत्कार करना चाहिये और ज्येष्ठ भाई की पत्नी का भी नित्य अभिवादन करना मनुजी ने कहा है। यथा—

भ्रातुर्भार्य्योपसंग्राह्या सवर्णाहन्यहन्यपि।
विप्रोष्य तूपसंग्राह्या ज्ञातिसम्बन्धियोषितः॥
पितुर्भगिन्यां मातुश्च ज्यायस्यां च स्वसर्य्यपि।
मातृवत् वृत्तिमातिष्ठेन्माता ताभ्यो गरीयसी।

जेठे भाई की जो सवर्णा स्त्री है अर्थात् दूसरे वर्ण कीं नहीं है उस का पादाभिवादन नित्य प्रति करना चाहिये और ज्ञाति, सम्बन्धी स्त्रियों को चाहै पितृ-पक्ष की हो चाहे मातृ-पक्ष की, वा श्वसुर-पक्ष की, इन से प्रति दिन प्रणाम करना नहीं कहा। जब परदेश से आवै तो इन से सब से एक बार प्रणाम करै और फूफू व मौसी व जेठी भगिनी इन सब को माता के समान जानना चाहिये और माता तो इन से सब से बड़ी है! जब कि मानव-धर्म-शास्त्र में यह

साधारण नियम है कि स्त्रियों को सदा परितोषित रखना चाहिये तो श्रेष्ठ मान्य स्त्रियों को तो कुछ पूछना ही नहीं, क्योंकि वह तो सर्वथा अधिकारिणी ही हैं। यथा—

पितृभिर्भ्रातृभिश्चैताः पतिभिर्देवरैस्तथा।
पूज्या भूषयितव्याश्च बहुकल्याणमीप्सुभिः।
यत्र नार्यस्तु पूज्यन्ते रमन्ते तत्र देवताः॥
यत्रैतास्तु न पूज्यन्ते सर्वास्तत्राफलाः क्रियाः।

जो मनुष्य अपना अधिक कल्याण चाहता है उस को चाहिये कि अपनी कन्या व भगिनी व पत्नी व भौजाई आदि को सुन्दर प्रिय मधुर शब्दों से मान, सत्कार व वस्त्र आभूषणों आदि से आभूषित करता रहै क्योंकि जहां स्त्रियों का मान होता है और वह सत्कार पाकर प्रसन्न रहती हैं वहां देवताओं का वास होता है और जहां इन का निरादर होता है, स्त्रियां दुःखी रहती हैं वहां पर सम्पूर्ण कर्मयज्ञ दान या पूजा-पाठ

तीर्थव्रत निष्फल हो जाते हैं और अनेक प्रकार के विघ्न फूटनि आदि पड़ जाती हैं इस से यत्न-पूर्वक मनुष्यों को उचित है कि स्त्रियों को सदाकाल प्रसन्न रखने की चेष्टा करता रहै, नहीं तो बड़ी आपत्ति आन पड़ती है। जैसा मनुजी ने कहा है—

शोचन्ति जामयो यत्र विनश्यत्याशु तत्कुलम्।
न शोचन्ति तु यत्रैता वर्द्धते तद्धि सर्वदा॥
जामयो यानि गेहानि शपन्त्यप्रतिपूजिताः।
तानि कृत्या हतानीव विनश्यन्ति समन्ततः॥

जहां पर कुल की स्त्रियां दुखित होकर शाप देती हैं वह कुल शीघ्र नष्ट होजाता है और जहां इनको कोई शोच नहीं रहता, सब प्रकार प्रसन्न रहती हैं उस कुल की वृद्धि होती है। जहाँ स्त्रियों का मान-सत्कार, वस्त्र-भूषणादि से पूजन नहीं होता और उस गृह को स्त्रियां अपमान से दुखी होकर शाप देती हैं वहां चारों ओर से धन, पशु आदि की इस प्रकार

हानि होती है जैसे कोई किसी बड़े महात्मा सिद्ध पुरुष के क्रोधोत्पन्न कृत्या अर्थात् अभिचार से नाश को प्राप्त हो जाता है ।

तस्मादेताः सदा पूज्या भूषणाच्छादनाशनैः ।
भूतिकामैर्नरैर्नित्यं सत्कारेषूत्सवेषु च ॥
संतुष्टो भार्यया भर्ता भर्त्रा भार्या तथैव च ।
यस्मिन्नेव कुले नित्यं कल्याणं तत्र वै ध्रुवम् ॥

इस कारण ऐश्वर्य्य की आकांक्षा रखनेवाला पुरुष भूषण, वस्त्र, भोजन आदि से सदा काल स्त्रियों का पूजन किया करै क्योंकि जिस कुल में पत्नी से पति प्रसन्न रहता है और पति से पत्नी प्रसन्न रहती है उस कुल में ध्रुव करके कल्याण होता है । इस प्रकार संक्षेप से कुछ मनुष्य-धर्म इस छोटे से निबन्ध में लिखा गया है । विशेष जानने की इच्छा रखनेवालों को मानव आदि धर्म-शास्त्र विद्यमान हैं, मुख्य बात मनुष्यों को आचार ही ग्रहण करना परमोचित है

क्योंकि इसी का सर्वत्र व सर्वदा व्यवहार होता रहता है। वह दो प्रकार का देवीभागवत में कहा गया है। यथा—

आचारो द्विविधः प्रोक्तः शास्त्रीयो लौकिकस्तथा।
उभावपि प्रकर्तव्यौ न त्याज्यौ शुभमिच्छता ॥

सदाचार दो प्रकार के हैं एक तो शास्त्रीय जो मानव आदि धर्म-शास्त्रों व अन्य धर्म स्थानों में कहे गये हैं जो अनुबन्ध चतुष्टय अर्थात् संबन्ध अधिकार विषय प्रयोजन की रीति से सम्पूर्ण मनुष्यों के कर्तव्य हैं। दूसरा लौकिक जो देश-काल-पात्र के अनुरोध से भिन्न २ अनेकों प्रकार के दिखाई देते हैं, ये दोनों आचार उसी अनुबन्ध चतुष्टय के द्वारा सबको करना योग्य है। त्यागना एक भी न चाहिये क्योंकि उसी देवी भागवत का वचन यह भी है जो उन्हीं दोनों आचारों से अभिन्न है यथा—

ग्रामधर्म्मा जातिधर्म्मा देशधर्म्माः कुलोद्भवाः।
परिग्राह्याः नृभिस्सर्वे नैव तॉंल्लंघयेन्मुने ॥

ग्रामधर्म, जातिधर्म, देशधर्म और कुलधर्म इन सब धर्म्मों को मानना चाहिये। मनुष्यों को उचित है इनमें से एक को भी न त्याग करै क्योंकि धर्म-पालन ही करना एक मनुष्य ज्ञाति का कारण है, इससे सर्वथा धर्म-पालन का प्रयत्न करते रहना चाहिये, अब इस ग्रन्थ के अन्त में आभ्यन्तारिक सिद्धान्त योगि याज्ञवल्क्य-प्रणीत धर्म-शास्त्र-कथित सम्पूर्ण कथित धर्मों का परम धर्म रूप पूर्ति लिखा जाता है वह यह है—

इज्याचार दमाहिंसा
दानस्वाध्यायकर्म्मणाम् ।
अयं तु परमो धर्मो—
यद्योगेनात्मदर्शनम् ॥

इज्या—यज्ञादिक आचार पूर्व कथित दोनों प्रकार

के लौकिक और शास्त्रीय, दम—इन्द्रियादिक मन का निग्रह, अहिंसा। जीवों का प्राण-वियोग न करना। दान देना, वेदपाठ आदि वैदिक कर्मों का अनुष्ठान इत्यादि इन सब कर्मों के करने का परमधर्म यह है कि जिसमें आत्मज्ञान प्राप्त होवै जो चराचर जगत् के कर्म-बन्धन से छूटने व आवागमन मिट कर कैवल्य प्राप्त होने का एक कारण है।
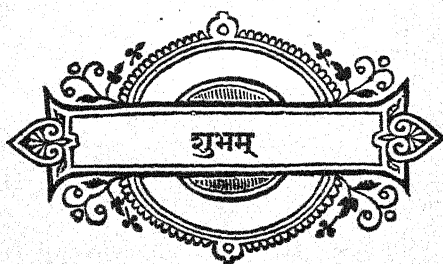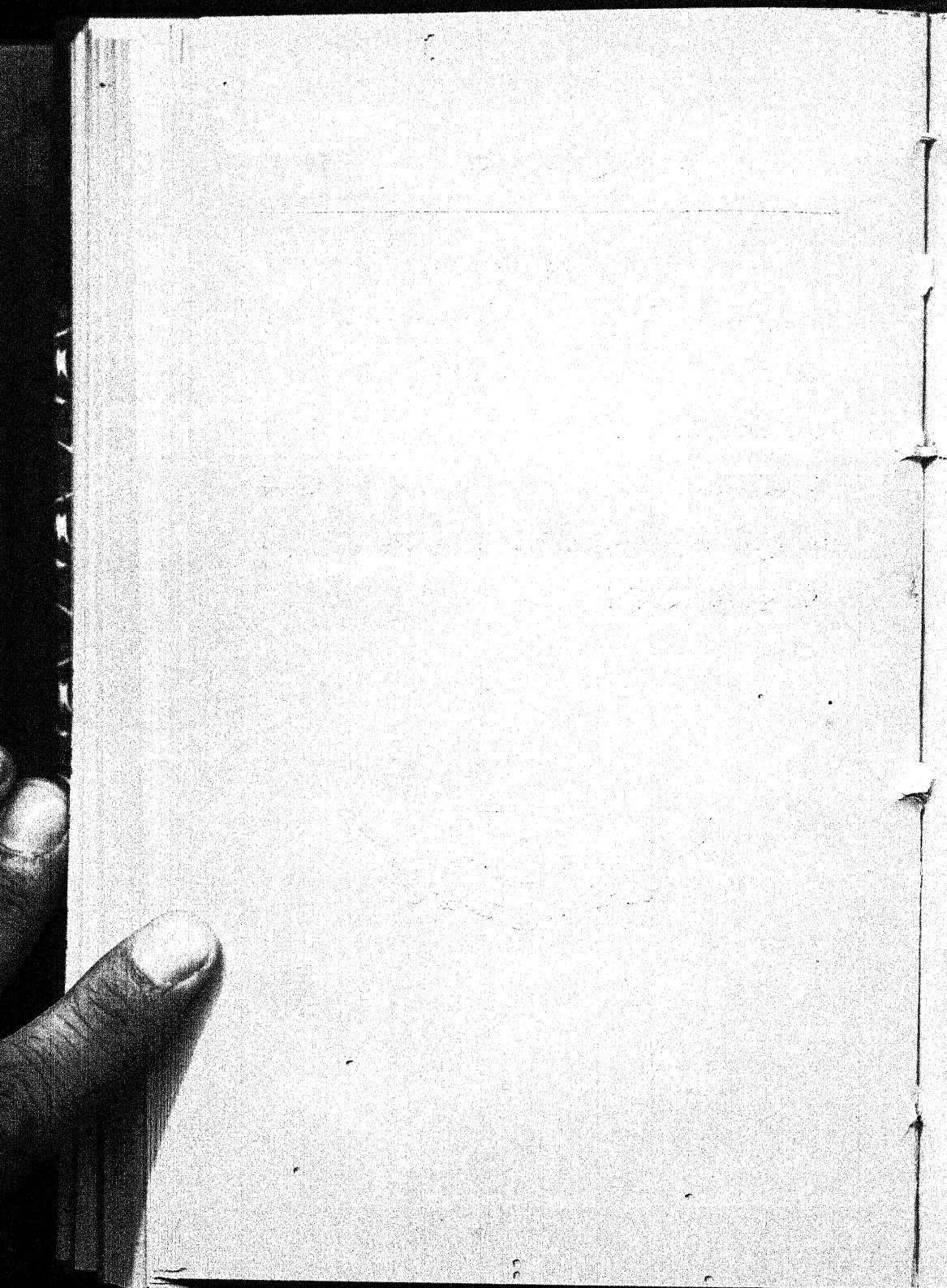
ENGLISH TRANSLATION

OF

RAJ BHAKTI

A BOOK DEALING WITH OUR DUTIES TOWARDS THE KING

Allahabad:

PRINTED AT THE INDIAN PRESS

1910

INTRODUCTION.

PAGE 3. Chhanda (the science of prosody) the feet of the Vedas ; Kalpa (ritual) is said to be the hands ; astronomy the eyes ; Nirukta (the grammar of the Vedas) the ears ; Siksha (the science of proper articulation and pronunciation) the nose ; grammar, the mouth.

In the six Vedangas grammar is the principal part.

PAGE 4. "A true leader should be like the mouth that alone eats and drinks and thereby protects and nourishes the whole body with discrimination," so says Tulsi Das.

PAGE 4. The affixes अन and यत after the word "Manu," and the augment षुक is added before these affixes provided that the whole word so formed denotes a class (Jati).

PAGE 5. From the unmanifested all manifestations proceed at the coming on of day ; at the coming on of night they dissolve in that only which is called the unmanifested. The same multitude of beings, having come into being again and again, is dissolved at the coming on of night, not of its own accord, O son of Prithu, and comes forth at the coming on of day.

PAGE 6. A human being usually takes his good, bad, and indifferent qualities from the society in which he moves as a drop of water on a red hot iron wastes itself, *i.e.*, is evaporated by the heat, the same drop on a lotus leaf looks like a pearl and shines beautifully while the same drop in the days of the Swati star by falling into the mouth of an oyster of the sea turns into a pearl.

PAGE 7. Merits pass as merits with those who know how to appreciate them ; they coming in contact with one devoid of merits are turned into demerits.

Rivers, at their source, have sweet water but on reaching the sea they cease to be drinkable.

PAGE 11. Trees themselves do not eat their own fruits, rivers themselves do not drink their own waters, clouds do not rain for their own benefit, in the same way the wealth of the good is for doing good to others.

PAGE 12. What is death ? It is ones own bad name.

PAGE 14. In this changeable world who is dead that is not born again ? He is (really) born by whose birth the family is exalted.

PAGE 19. The thought of duty on the one hand and the feeling of love on the other hand have put me in suspense (have confused my intellect.) My position is like that of a serpent who has caught a mole

in his mouth (this simile alludes to the popular belief that when a serpent catches a mole in its mouth, if he leaves the latter it will turn blind, and if it eats it up, it will suffer from leprosy.

PAGE 20. The advice of mother, father, master, and preceptor should be acted upon without hesitation, because it is always useful.

PAGE 20. Whoever suffering pain conceals the faults of others is worthy of reverence and attains fame in this world.

PAGE 21. The will of God is supreme.

MANUSHYA DARPANA.

PAGE 1. Bow to the God Shiva who is beyond contemplation and description, unknowable, above the three virtues, *Sat*, *Tamas*, and *Rajas*, pure, and full of knowledge.

PAGE 5. When the earth was being pressed under the weight of sin committed by all the demons under the leadership of Rawan, she took the form of a cow and went to the region of Brahmâ in the company of the gods and the saints and with tears in her eyes related to Bramhâ her distress. For a while, Brahmâ—the universal soul—pondered over it and (by the power of retrospection) he pictured the real facts to his mind.

PAGE 7. Whenever there is a decay of religion, O Bharata, and ascendency of irreligion, then I assume existence. For the protection of the good, for the destruction of the wicked, for the firm establishment of religon, I am born in every age.

PAGE 9. The body is mortal, wealth is also not permanent, death is always near at hand, (therefore) a man should practise virtue.

PAGE 10. One's good deeds alone befriend and follow one after death, for everything else perishes with the body. Wealth (remains) in the treasury, animals in the stables, wife at the door of the house, relatives and friends go up to the place of cremation, the body itself goes up to the pyre, but the soul followed by its actions goes to the next world.

PAGE 11. Virtue is as a good action performed in one's previous life was.

PAGE 12. The word **होरा** is formed by dropping the first and last letters of **अहोरात्र**. That **होरा** Shastra (the science of astrology) indicates the result of good and bad actions performed in the previous life.

PAGE 13. Men and beasts are alike in eating, sleeping, fear, and the enjoyment of carnal desire, surely the sense (or performance) of duty is an attribute peculiar to men. Devoid of this they are like beasts.

PAGE 14. The Vedas along with the Purans, the

Nyaya, the Mimansa, the Dharma Shastra and the angas are the fourteen sources of knowledge and duty.

PAGE. 15. The sources of duty are described to be (1) the Vedas (2) the Smritis (3) the conduct of the good (4) that which is liked by one's conscience, and (5) the desire produced by a firm and virtuous resolve.

PAGE 16. But by *Sruti* is meant the *Vedas*, and by *Smriti* the institutes of the sacred laws.

PAGE 16. Manu, Atri, Vishnu, Harita, Yajnavalkya, Ushana, Angira, Yama, Apastamba, Sambarta, Katyayana, Vrihaspati, Parasara, Vyasa, Sankha, Likhita, Daksha, Gautama, Shatatapa, and Vashishtha are the authors of Dharma Shastra.

PAGE 17. Sruti and Smriti are the two eyes and the Purana is the heart of religion ; whatever they contain is the true religion which is not to be found elsewhere.

PAGE 18. When there is a conflict between Smriti and custom the Smiriti should prevail, but if there be a conflict between a text of the Vedas and a text of Smriti the former should prevail.

When two sacred texts (of Sruti) are conflicting, both are held to be the law. To those who seek the knowledge of the sacred law the supreme authority is the revelation.

PAGE 19. The pits in Yamaloka (hell) exist for

the edification of him who disregards the religion taught in the Vedas and acts on other authorities ; (*i.e.*, he will have to suffer the tortures of Yamaloka).

PAGE 20. That land created by the gods, which lies between two divine rivers the Sarasvati and the Dhrishadvati, (the sages) call Brahmâvarta.

The tradition handed down in regular succession (from time immemorial) among the (four chief) castes (varna) and the mixed (castes) of that country, is called custom.

PAGE 21. The plain of the Kurus, the (land of the) Matsyas, Panchalas and Surasenakas, these (form) indeed the country of the Brahmarshis (Brahmanical sages), which adjoins Brahmavarta. From a Brahman, born in that country, let all men on earth learn their respective duties.

PAGE 22. That (country) which lies between the Himalayas and the Vindhyas to the west of Prayaga and to the east of Vinashana (the place where the river Sarasvati disappears) is called Madhyadesha (the central region).

But (the tract) between the two mountains (just mentioned), which (extends) as far as the eastern and western oceans, the wise call Aryavarta (the country of the Aryans).

PAGE 24. 1. **गर्भाधान** (one of the Sanskars or purificatory ceremonies performed after menstruation

to ensure or facilitate conception). 2. पुंसवन (one of the Sanskars performed on a woman's perceiving the first signs of conception with a view to the birth of a son.) 3. सीमंत (one of the Sanskars observed by women in the fourth, sixth and eighth month of their pregnancy). 4. जातकर्म (the ceremony performed after the birth of a child). 5. नामाख्यं (the rite of naming the child). 6. निष्क्रमण (the religious rite of taking out a child in the open air). 7. अन्नप्रासन (the ceremony of initiating a child in the tasting of grain). 8. चूडाकर्म (tonsure ceremony). 9. व्रतबंध (investiture with the sacred thread). 10-13. चतुर्वेदव्रत (the vow of studying the four Vedas). 14. केशान्त (the ceremony of cutting the hair). 15. विसर्ग (the returning of pupils to their houses after finishing their sacred studies). 16. परिणय (marriage). These are the sixteen Sanskars or purificatory ceremonies.

PAGE 25. गार्मै By sacrifices during pregnancy, by Jatakarma (the ceremony after birth), by chaul (tonsure), and by the Maunjibandhan (tying the sacred girdle of Munja grass to the waist), the taint of semen and pregnancy in the twice-born man is removed.

By the study of the Vedas, by religous observances, by oblations on the sacred fire, by recitation of the sacred texts, by (the acquisition of the) three sacred sciences, by burnt offerings (to the gods, Rishis, and

manes), by bringing forth sons, by the small and great sacrifices the body of man is transformed into that of Brahma.

PAGE 27. Bali (the offering of food) to all sentient beings is called Bhutyagya sacrifice, offering to the manes is called the Svadha sacrifice; homa the offering into the fire is the Deva sacrifice; the study of the Vedas is called the Brahma sacrifice; hospitable reception of the guests is the great Manushya sacrifice.

PAGE 28. The division of men into four castes has been made by me according to their attributes and actions.

PAGE 28. Maheshwar is the god of those who observe the rules of the four castes and the four stages of life as well as the usages.

PAGE 28. A person who follows the rules of his caste obtains salvation while he who acts contrary to them goes to hell after death.

PAGE 29. A true religious student should live in the house of his spiritual guide after investiture with the sacred thread.

PAGE 29. Having spent with a preceptor a fourth part of his life a Brahman should marry and live during the second quarter of his life in his own house.

PAGE 31. Until a man attains his twenty-fourth year his life is risky.

PAGE 35. I have nothing whatsoever to perform in the three worlds, O son of Prithu, nor is there anything unattained that should be attained ; yet I engage in action. For if I were not to actively engage in action (men may do the same) as they in all matters follow my path, O son of Prithu.

PAGE 36. Whatever the most prominent man does other men do ; whatever standard he sets up is followed by the world.

PAGE 37. The pride of the enemy vanished when he saw that a monkey's foot could not be moved from the ground, in the same way a good man does not forsake his principles, millions of difficulties notwithstanding.

PAGE 39. A king is the second god on earth, therefore he should be worshipped as such. God is the creator of all while the king is their protector and governor.

PAGE 39. For enforcing discipline among his subjects and for their protection and support the king is their father whereas they owe their existence only to their progenitors.

PAGE 40. For when these kingless beings were through fear dispersed in all directions, the Lord created a king for the protection of them all.

PAGE 41. Brahma and others made a king out of the particles of Indra, Agni, Yama, Kuber, the god

of water, the god of winds, the Sun, and the Moon. King is Brahma, King is Rudra, King is the Sun and Vishnu ; King is the giver, taker, and maker according to the actions of men.

PAGE 42. Even an infant king must not be despised on the ground that he is a man, for he is a great deity in human form.

PAGE 42. Fire burns one man only if he carelessly approches it, the fire of a king's anger consumes the whole family, together with its cattle and its hoard of wealth.

PAGE 43. Having fully considered his business, power, and opportunities, he assumes again and again many shapes for the accomplishment of virtue.

PAGE 43. O best of the twice born, a king assumes the shapes of Indra, Agni, Yama, Kuber, and the Moon. In this world all the kings are the images of these five gods.

PAGE 44. When a king is desirous of conquering all his enemies he takes weapons in his hands, strings his bow, and accompanied by his army and emblems of royalty shines like Indra in this world.

PAGE 45. Whenever a king justifiably or unjustifiably inflamed with anger punishes his subjects the wise call him an image of the god of fire.

PAGE 45. When a king sits on the seat of justice, views the good and bad acts of men in the light of

the Vedas and the Shastras, rewards the righteous and punishes the wicked, at that time he is verily the god of justice in this world.

PAGE 46. When a king cheerfully satisfies the ministers, the twice-borns, and the mendicants by giving money to them as they deserve ; he appears to be the god of wealth.

PAGE 46. A king, having cheerful appearance, devoid of jealousy, regardful of the welfare of his subjects, and possessed of the good qualities of the moon, is called the moon-like king.

PAGE 47. He in whose pleasure the goddess of wealth dwells, in whose valour victory dwells, and in whose anger death resides, is certainly formed of the brilliance of all gods. The man who by his ignorance hates him doubtlessly perishes for the King forthwith makes up his mind to destroy him.

PAGE 49. Let none therefore transgress that rule which the King ordains for his favourites, nor the rule which he ordains for punishing his non-favourites.

PAGE 50. For his sake the Lord first of all created his own son, Dharma like dispenser of punishment, the protector of all creatures and full of god's glory. Through fear of punishment all created things, moveable or immoveable, are able to enjoy themselves and do not swerve from their duties.

PAGE 51. The punishment itself assumes the form of king who leads, governs, and guarantees the observance of the four stages of life and of religion. Punishment alone controls all created beings, punishment alone protects them, punishment alone is awake while others sleep ; the wise declare punishment to be the law.

PAGE 53. If the King were not to punish those who deserved punishment, the stronger would roast the weaker like a fish on a spit.

PAGE 53. The crow may eat and the dog may lick the sacrificial burnt offerings, the ownership may not remain in any one, and the lower ones may usurp the places of the higher ones. The whole world is kept in subjection by punishment, for an honest man is hard to find, through fear of punishment the whole world is able to enjoy.

PAGE 54. The gods, the Danavas, the Gandharvas, the Rakshasas, the birds, and the serpents are also able to enjoy through fear of punishment. All castes may be corrupted, all principles may be violated, all men may be infuriated with each other in consequence of punishment being misplaced.

PAGE 54. For fear of Him the fire burns, the sun shinês, Indra and wind perform their respectiv functions, and fifthly death overtakes.

PAGE 55. But where punishment, the destroyer

of Sin, whose color is dark, and eyes red, rules, there the subjects are not disturbed provided that the leader supervises fully. They declare that king to be a just dispenser of punishment, who is truthful, is considerate, wise, and who understands virtue, pleasure and wealth.

Page 56. By him who is honest, true to his promise, an exact follower of the sacred laws, a good helper, and wise, punishment can be inflicted. Let him act with justice in his own dominion, let him severely chastise his enemies, let him behave without deceit towards his friends and dear ones, and let him be lenient towards Brahmans.

Page 58. The king who acts with promptitude in all matters himself sees, hears and knows everything, is brilliant, and controls, such a king's orders are bound to be obeyed by every one because he is an incarnation of the gods.

Page 58. The mandates of a king are supreme ; he who does not obey them ought to be killed by weapons. It is the duty of every one on earth to act up to what a king instructs.

Page 59. The glory of a king is like a sun ; whoever speaks harsh words about him soon suffers death on account of this sin like a person who looks towards the sun, disregarding its lusture.

Page 60. Because a king has been formed of the

particles of these lords of the directions he, therefore, surpasses all created beings by his lustre. And, like the Sun, he burns eyes and hearts, nor can anybody on earth even gaze on him.

PAGE 63. Fie upon us who deceive a master who shows respect towards us again and again by his respectful treatment, gifts and great friendship.

What will be the lot of us who do not mind the business of our master.

PAGE 64. Certainly we will be condemned to an abode in hell. Alas ! such of us as have not performed the work of our master though living and possessed of every limb will have a hard lot at every step.

PAGE 65. Those persons who having neglected the work of their master show their faces to him without shame are burdensome to the earth.

The weight of the mountains, seas and huge trees is not felt by the earth so much, as the enormous weight of those who are treacherous to their master.

PAGE 66. He who does not exterminate an enemy and a disease as soon as they are born or produced, will though very powerful, be killed by that (enemy or that disease).

PAGE 68. A golden deer never existed before neither has it ever been seen nor heard to exist, yet Ráma longed for such a deer ; in times of adversity the intellect is inverted.

PAGE 70. One's own religion though devoid of merit is better than that of another well followed. To die in one's own religion is better ; the religion of another is productive of danger.

PAGE 71. The path in which Hari is worshipped is without obstructions. That path should be known as bad which is not frequented by Govinda.

PAGE 72. As gold reveals its purity when it is heated, beaten, cut and rubbed, the same is the case with a good man.

PAGE 74. The Vedas are authoritative ; so are the Smritis ; there is no sage whose words are not authoritative ; the essence of religion is hidden in an obscure place ; that path which has been trodden by the good is the true path.

PAGE 76. Sages call that akshawhini which is composed of ten thousand elephants, thirty thousand chariots, one hundred thousand warriors, one million horse and thirty six-crores of infantry.

PAGE 79. A man who is false to his friends, who is ungrateful, and who is treacherous goes to hell and remains there so long as there are the moon and the sun.

PAGE 82. A wise man while intending to do something good or bad should think out its result with prudence as the result of actions done in haste is a heart burning which gives pain like a thorn until the last moments.

PAGE 82. Whether one may dive in the ocean, or climb up to the peak of the Sumeru, or conquer one's foes in battle, or learn all the arts of trade, agriculture, and service, or like birds may soar in the whole sky with great skill what is not to happen will not happen and what is to happen will certainly take place in this world being influenced by fate.

PAGE 83. Indra became a thousand-eyed by fate, the moon waned by fate, by fate the sea became saltish, and by fate the wondrous rain falls.

PAGE 84. Men ought to exert themselves to the best of their intellect and power but the fruits of all actions depend upon Thee, O Shankar.

PAGE 89. He is dear to me by whom the world is not afflicted nor is he afflicted by the world, who is free from pleasure, anger, fear and sorrow.

PAGE 90. A mean person persists in wishing to ruin him by whom he has been exalted.

PAGE 92. O Parasuram of powerful arms ! you have committed a great sin by killing the King Sahasrarjuna who was full of god-like qualities, because the killing of a king who has been anointed is even a greater sin than the killing of a Brahman, therefore, O dear one, remove (this sin) by making pilgrimage with your mind concentrated upon God.

PAGE 96. Alas ! O ignorant ones, you have inflicted a severe punishment for a trifling mischief.

O you of unripe intellect, a king is like god, he should not be treated like ordinary men. By his great lustre the subjects are rendered fearless from all sides and enjoy protection and happiness.

PAGE 97. A king is after the image of Vishnu who has a disc in his hand but the god is not visible in him. Without a king the gang of robbers robs the unprotected subjects in a minute like a flock of sheep. Without a king the great robbers kill each other's cattle, elope each other's women, and seize each other's wealth and all of us will be held responsible for the sin so committed (Shamik Rishi addressing his son Shringi Rishi who had cursed Raja Parikshit on account of which he was to be bitten to death by a snake on the 7th day, said this)

PAGE 99. In the absence of a king the best religion disappears and the caste system and the rules of the four stages of life and the customary laws ordained by the three Vedas also vanish. In that case those who seek wealth and fulfilment of desire become of mixed caste like dogs and monkeys.

PAGE 100. Even if the subjects of a king be insulted, deceived, cursed, imprisoned or killed and although they may be in a position to retaliate they should not do anything against him but should remain loyally devoted to him. The great sage repented for the sin committed by his son Shringi

Rishi who had cursed the King Parikshit. Although he was treated disrespectfully by the King yet he did not mind it.

PAGE 101. O Suberta, the lives of persons who are bent upon troubling the Brahmans and the gods are shortened and so is their lustre shortened.

PAGE 103. As a husband though possessed of no good qualities is always an object of reverence to a wife, so a king though devoid of good qualities ought to be worshipped by the people.

PAGE 103. The advice of mother, father, master, and preceptor should be acted upon without hesitation and should be considered beneficial. The sun should be worshipped with the back turned towards him and fire should be worshipped from the front, and the master should be served without any sinister motive.

PAGE 104. Though of bad conduct or debauched or even devoid of good qualities, a husband must always be served like a god by a chaste wife.

PAGE 111. A king should appoint 7 or 8 such ministers as have royal servants for their ancestors, are versed in the sciences, are heroes skilled in the use of weapons, are of noble ancestry, and are tried men. Let him daily consider along with them the usual topics of peace and war, the four subjects called sthana, namely, the elephants, etc., the treasury, the

kingdom, and the inmates thereof, and think of places where gold, gems, and other materials can be had, the manner of protection and the proper distributions of his gains.

PAGE 116. The king has been created to be the protector of those that by nature follow the respective ordinances of the four castes and the four stages of life.

PAGE 116. A king who knows his duty should instruct his devoted subjects as a father does his own sons, while he should bring his disloyal subjects to right path by inflicting punishment on them.

PAGE 117. The sages say that a king should punish criminals by confiscating the whole or a part of their property, by cutting their hands and feet, by hanging or by instantaneous deportation from the kingdom.

PAGE 118. The king who investigates the crimes of men (fully) and inflicts punishment upon the criminals regardful of time, place, body and age of the criminal attains a position equal to that of Indra after death.

The king who punishes criminals and imposes taxes according to law, his fame increases considerably, his life grows longer and he enjoys heavenly pleasures.

PAGE 119. The king who brings on the right

path the families, the rows of men, the castes, the qualities and the people that had strayed from the path of duty, practises virtue and deserves praise even of the gods in heaven.

PAGE 120. In Satya Yuga the (whole) country was defiled (if a sinner lived therein), in Treta his village only, in Dwapar his family only was defiled but in Kali Yuga the perpetrator of the crime only is polluted.

PAGE 121. As a gardener should not uproot the trees but should gather their flowers only in a garden in the same way a king should act towards his subjects.

PAGE 122. A king skilled in the art of government, lives long in this world like a gardener replanting the uprooted, picking up the blossomed, causing the little ones to grow, removing the thorny and the crooked, separating the intertwined, bending the high and lifting and raising up the bent.

PAGE 126. Wife, sons, wealth, attendants, kinsmen, friends, mother, brother, father, father-in-law, enjoyments, prosperity, knowledge, beauty, youth, and pride; these are of no avail at the time of death. Dharma is the only support.

PAGE 132. The ruler within whose knowledge, and the knowledge of whose officers, the robbers plunder his clamouring subjects does not really live but is dead. The paramount duty of a Khastrya

(king) is to protect his subjects. By discharging his duty in this way he becomes righteous.

PAGE 133. If the unprotected subjects of a king who collects taxes (in order to protect them) commit any sin, the king shares half of it.

PAGE 134. That king surely deserves hell in whose kingdom his dear subjects are miserable.

PAGE 135. Truthfulness and industry accomplish all the desired objects.

PAGE 137. Those who carry out the orders of their fathers without considering their propriety or impropriety are blessed with happiness and fame and dwell in the region of Indra.

PAGE 141. A student should reverentially first salute him from whom he acquired his worldly and scriptural knowledge.

PAGE 142. There is no doubt that Brahma, Hari, Rudra, other gods, and sages look with favour upon the person with whom his preceptor is pleased.

PAGE 143. One should not offend his preceptor by actions, thoughts or words. By his anger age, wealth, knowledge, and good deeds are burnt.

PAGE 143. The order of a preceptor should be respectfully obeyed whether he possesses good qualities or not; he who is desirous of felicity in life should not even think of disobeying the orders of his preceptor.

PAGE 144. One who fully acts upon the advice of one's preceptor obtains knowledge and wealth.

One cannot accept or give up a thing without testing it.

PAGE 145. By knowledge final beatitude is gained.

PAGE 147. While daily beginning and finishing his Vedic lessons the student must always touch the feet of his teacher, and he must study, joining his hands; which is called the Brahmanjali.

PAGE 147. The preceptor having invested the pupil with the sacred thread should teach him ablution, good conduct, the performance of the sacrifice, and the saying of the morning, noon and evening prayers.

PAGE 148. Even the study of the Vedas with all the Angas cannot purify a man who is morally degraded. At the time of death the Vedas leave him, as the birds leave their nests when they are plumed.

PAGE 149. For a man of bad character is blamed in this world, constantly suffers misfortunes, is afflicted with diseases, and is short-lived.

PAGE 149. By not studying the Vedas, by deviation from the rule of conduct, by idleness, and by eating the prohibited food, death becomes eager to shorten the lives of Brahmanas.

PAGE 150. One should diligently follow the practices of virtuous men relating to one's profession

which have been fully laid down in the Scriptures and in the sacred law books (Smritis) and are the root of virtue. Through virtuous conduct he obtains long life, through virtuous conduct (he obtains) the desired offspring, through virtuous conduct (he obtains) imperishable wealth ; virtuous conduct destroys (the effect of) an inauspicious sign.

PAGE 151. A man who follows the conduct of the virtuous, has faith, and is free from envy, lives a hundred years, though he be entirely destitute of auspicious marks.

PAGE 151. Every dependence is pain and every self-dependence is pleasure ; one should know this is the short definition of pleasure and pain.

PAGE 152. One should scrupulously avoid all undertakings for which one has to depend on others ; but one should zealously pursue that which depends on himself. One should zealously perform an act which on being performed gives self satisfaction and avoid the contrary.

PAGE 153. One must not sit down on a coach or seat occupied by a superior, and if oneself be in occupation of a coach or seat must rise to pay respects to one's superior.

PAGE 153. For the vitality of a young man mounts upwards on the approach of an elderly man ; but on rising and saluting it resumes its normal position.

PAGE 154. He who habitually salutes and always serves the aged obtains an increase of four (things) (*viz.*) life, knowledge, fame and strength.

PAGE 154. With or without command by a preceptor (a student) should exert in the study of the Vedas and in doing good to his preceptor.

PAGE 154. Controlling his body, his speech, his intellect, his organs, and his mind, one should stand with joined hands, looking towards the face of his teacher.

PAGE 155. Let him always keep his hand uncovered, behave well, and keep his body well covered, and on being addressed "Be seated" he should sit down, facing his teacher.

In the presence of one's teacher one should be moderate in food, clothes, and dress, and should rise earlier than one's teacher and go to bed later.

PAGE 156. One should not answer or converse with (one's teacher) lying on a bed, seated, engaged in eating, standing, and with a turned face.

PAGE 156. One should do that by standing up, if (one's teacher be seated) by advancing towards him if he be standing, by going near him if he be moving, and by running after him if he be running, by going in front of him if his face be turned against him, by approaching him if he be standing at a distance, and by saluting him if he be lying on a bed or engaged in conversation.

PAGE 157. While in the proximity of one's teacher one should occupy a lower seat and have one's bed lower but within sight of one's teacher one should not sit as one may choose. One should not utter the name of one's teacher without an epithet even in his absence nor should one mimic his gait, speech and gesture.

PAGE 158. It is permissible for one to sit with one's teacher in a carriage drawn by oxen, horses or camels, on the roof of a house, on a bed, on a mat, on a rock, on a wooden plank, or in a boat.

PAGE 159. One must shut one's ears or leave the place where one's preceptor is being blamed or slandered.

PAGE 160. The teacher is the image of Brahman, the father, the image of Prajapati (the Lord of created beings); the mother, the image of the earth, and a brother the image of one's soul.

The teacher, the father, the mother, and an elder brother, must not be treated with disrespect, even by a person in trouble and especially by a Brahmana.

PAGE 161. That trouble which the parents undergo on the birth of children, cannot be recompensed even in a hundred years.

PAGE 161. One should always do what is agreeable to those (the parents) and to one's teacher; when these three are satisfied one's penance is

complete. The service of these three is declared to be the best of penances ; one should not perform other meritorious acts without their permission.

PAGE 162. A householder, not neglecting these three, conquers the three worlds and shining with his body like a God enjoys bliss in heaven. He who has respected these three has respected all virtues but all actions of his who has not respected them are fruitless.

PAGE 163. As long as these three live one should not perform any other (meritorious acts) and being engaged in wishing them well, should always serve them.

By (honoring) these three all that a man should do, is accomplished ; that is the paramount duty ; every other (act) is subordinate to it.

PAGE 184. A maternal aunt, the wife of a maternal uncle, a mother-in-law, and a paternal aunt must be honored like the wife of one's preceptor, they are equal to the wife of one's preceptor.

PAGE 185. (The feet of the) wife of one's brother, if she be of the same caste (varna) must be touched every day ; but (the feet of) the wives of (other) paternal and maternal relatives need only be touched on one's return from a foreign land.

Towards a sister of one's father, and of one's mother, and towards one's own elder sister, one must

behave as towards one's mother ; (but) the mother is more venerable than they.

PAGE 186. Women must be honoured and adored by their fathers, brothers, husbands, and brothers-in-law, desirous of (their own) welfare.

Where women are honoured, there the gods are pleased ; but where they are not honoured all actions are fruitless.

PAGE 187. Where the female relations live in trouble, that family soon perishes, but that family where they are not unhappy ever prospers.

The female relations that are not duly honoured curse their families which consequently perish as if by magic.

PAGE 188. Hence men who seek their own welfare, should always honour women on auspicious and festive occasions with gifts of ornaments, clothes, and dainty food.

In that family where the husband is pleased with his wife and the wife with her husband, happiness will assuredly be lasting.

PAGE 189. Usages are of two kinds, viz., those sanctioned by the Scriptures or by tradition. Both of these should be acted upon by men wishing themselves good ; none of them should be disregarded.

PAGE 190. Men should follow village, caste, country, and family usages. None of them ought to be neglected. O Sage !

PAGE 190. Sacrifice, observance of the rules of conduct, self restraint, harmlessness (by not killing animals), charity, and study of the Vedas are the greatest virtues by which spiritual knowledge is attained.

श्रीमान् आनरेबल राजा प्रतापबहादुर सिंह जूदेव सी० आई० ई०
प्रतापगढ़, दुर्गाधिपति, अवध

इण्डियन प्रेस, प्रयाग